यजुर्वेदमन्त्रात्मकं काव्यम्

कवितार्किक मोगा पंजाब

सन्त राम शास्त्री

अथ

यजुर्वेदात्मकं काव्यम्

भाषानुवाद-सहितम्

★

काव्यप्रणेता :

कवितार्किक सन्तराम शास्त्री

मकान नं० 394, गली नं० 6

न्यूटाऊन मोगा (पञ्जाब)

पिन 142001

FORWARDED FREE OF COST WITH THE COMPLIMENTS OF
RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN - NEW DELHI

प्रकाशक :

कवितार्किक सन्तराम शास्त्री
मकान नं० 394 गली नं० 6
न्यू टाऊन, मोगा ।

इस पुस्तक के प्रकाशन में भाषा विभाग पञ्जाब, पटियाला के सहयोग का आभारी हूँ । —लेखक

मूल्य : ८० रुपये

मार्च 1996

सर्वाधिकार लेखक के अधीन

मुद्रक :
वी० वी० आर० आई० प्रैस,
साधुआश्रम, होशियारपुर (पंजाब) ।

निवेदन

सर्वप्रथम मैं डॉ० ब्रजबिहारी चोबे जी प्राध्यापक साधु आश्रम होशियारपुर का अत्यन्त आभारी हूँ । उन्होंने मेरे प्रथम **"वेदमन्त्रात्मकं काव्यम्" का प्राक्कथन** लिखा था । मैं समय की परिस्थिति के कारण काव्य छपने के बाद होशियारपुर पहुँचा । अतः उनके आभार के लिए दो शब्द न लिख सका, तब से मैं अपने आप में लज्जित सा महसूस कर रहा था, अब उनसे क्षमा याचना करके अपने मन के बोझ को हल्का कर रहा हूँ । मैं आशा करता हूँ वे मेरी इस विवशता की भूल को क्षमा करेंगे ।

1. परमश्रद्धेय ! निवर्तमान शङ्कराचार्य, परतत्त्वान्वेषी, सर्वजनाकर्षक प्रवक्ता, देशदेशान्तरों में भगवत् तत्त्वावबोधक वाचामीश, निगमागममर्मज्ञ, यतिगणाग्रणीय, वीतराग, सौम्यमूर्ति, श्री १००८ स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि जी महाराज अध्यक्ष भारत माता मन्दिर सप्तसरोवर हरिद्वार ।

2. अनेकानेकाध्यात्मिक सम्मेलनों के कर्ता, गीता ज्ञान गरिमानिष्ठ, तत्त्वोपदेशक, प्रवचनपटु, तर्कशील, परोपकारी, सहज स्वभाव, स्वच्छ, सौम्य, सुहृदय, दूरदर्शी, अनन्त श्री विभूषित, श्री १०८ वेदान्तानन्द जी महाराज अध्यक्ष गीता भवन मोगा तथा पावन धाम हरिद्वार ।

3. शतचण्डी, सहस्रचण्डी, लक्षचण्डी, यज्ञों के विधायक, माँ दुर्गा के कृपापात्र, भारतभारती भास्कर, विद्वज्जनाभिनन्दित, सरलमुनिवृत्ति, वाणीभूषण, श्री 108 ऋषिकेशवानन्द जी महाराज—अध्यक्ष निर्धन निकेतन खड़खड़ी हरिद्वार ।

इन तीन महान् विभूतियों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ । इनकी प्रेरणा तथा शुभ आशीर्वाद से—मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ । ईश्वर से इन तीनों की दीर्घायु की प्रार्थनानन्तर मैं आशा करता हूँ, ये भविष्य में भी अपना आशीर्वाद मुझे देते रहेंगे ।

4. डॉ० केवलकृष्ण वित्तमन्त्री पञ्जाब की सहानुभूति के लिए मैं हार्दिक आभारी हूँ। ईश्वर इनको परिवार सहित दीर्घायु करे, और आशा करता हूँ— ये अपनी सहानुभूति सदा के लिए स्थिर रखेंगे।

5. अन्त में परमश्रद्धेय! महाकवि डॉ० जगदीश प्रसाद जी सेमवाल शास्त्री, व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पी० एच० डी० प्राध्यापक विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं भारत-भारती अनुशीलन संस्थान — साधु आश्रम होशियारपुर का मैं अति कृतज्ञ हूँ। जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर मेरे प्रथम काव्य का तथा प्रस्तुत काव्य के संशोधन का भार अपने ऊपर लिया, यदि आपके दर्शन करें तो पता चलता है, कि आप कितने सरल और मधुर भाषी तथा निरभिमान व्याकरण के प्रगाढ़ विद्वान् हैं, अतः उनके आभार प्रकट करने के लिए मेरे पास कोई शब्द नहीं केवल प्रभु से नतमस्तक होकर प्रार्थना कर सकता हूँ कि हे प्रभो! आप इस महान् विभूति को दीर्घायु करें और ये सदा स्वस्थ रहकर माँ भारती की सेवा करते रहें। अन्त में नम्रता-पूर्वक आपके चरणों में नतमस्तक हूँ।

विनीत :

सन्तराम शास्त्री

शुभाशंसनम्

कस्याविदितं यच्चत्वारो वेदाः नित्यसत्यानां मानवधर्माणां प्रतिपादकाः सर्वहितसाधकाः परमकारुणिकस्य परमात्मनः निश्वासरूपाः वर्तन्ते। पुरा इमं सुविशालं वैदिकवाङ्मयमधीत्यैव सर्वे मानवाः स्वं स्वं कर्त्तव्यमचारिषुः। आसीत् सोऽपि स्वर्णिमः कालः भारतवर्षस्य यदा न केवलं श्रोत्रियाः ब्राह्मणाः अपितु शुकसारिकादयोपि वेदमन्त्रान् सस्वरं जगुः।

इदानीमपि वेदानामध्ययनेनैव कृत्स्नस्यापि जगतः कल्याणं भवितुमर्हति नात्रसन्देहावसरः। श्रुतिसेवमानेन मया विरचितां वैदिक-पुष्पाञ्जलिं द्वितीयं खण्डमधीत्य नितरां प्रेरितेन सरस्वतीसमुपासनारतेन कवितार्किकेण श्रीसन्तरामशास्त्रिणा वेदार्णवमवगाह्य यदधिगतम् तद् अति सरलायां प्रसादमय्यां च रीत्याम् (यजुर्वेदमन्त्रात्मकं काव्यम्) इति काव्यग्रन्थे प्रतिपादितम्।

अतिगूढं वेदज्ञानं पण्डितप्रवरेणानेन इत्थं श्लोकेषु बद्धं येन सामान्याः संस्कृतज्ञाः अपि अनायासेनैव श्रुतिपयः पातुं प्रभवन्तु।

मया सावधानेन चेतसा विलोकितमिदं काव्यम् प्रसन्नश्चाहमभवम्। अस्मिन् काव्ये पदे पदे कविवरस्य परिश्रमः विलसति। नूनं काव्यरसमिमं पायं पायं सुरभारतीसेवकाः भारताभिजनाः परमप्रसादमासादयिष्यन्ति। अन्ते च विद्वत्तल्लजोऽसौ दीर्घमायुः उज्ज्वलां कीर्तिञ्च प्राप्नुयाद् इति निखिलजगदाधारं परमेशं प्रार्थये येनास्य विदुषः सरस्वती सरित् प्रवहमाना भवेत्।

—रामप्रसादो वेदालंकारः
आचार्य उपकुलपतिश्च
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालयः,
हरिद्वारम्।

इदन्तावत्सचेतसां सहृदयधुरीणानां निखलशास्त्रार्थपरिपाटी विदुषां महाविदुषां शान्तेषु स्वान्तेषु परमानन्दामृतधारासन्तति प्रवाहयेद् यद् विद्वद्मूर्धन्यैः महामहिमशालिभिराशुकविभिर्महाकविभिः कवितार्किकश्रीसन्तरामशास्त्रिवर्यैः लौकिकानपि विषयाननुसृत्यानेकानि काव्यरत्नानि प्रकाशितानि प्रकाश्यन्ते प्रकाशयिष्यन्ते च । अमीषां सर्वाऽपि रचना (गद्यानि पद्यानि वा) विषयानुसारेण प्रसादमाधुर्यादिगुणगर्भिता सती निकामं सहृदयानां मनांसि मोहयति । यथोक्तमस्मिन् प्रचुरकविसम्प्रदायवाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयोद्वित्रा एव महाकवयो भवन्ति । सत्यमेतद् किन्तु वयं भृशं विश्वसिमीयन्महाकवयः स्वनामधन्याः कवितार्किकश्रीसन्तरामजीशास्त्रिणो महाभागास्तामेव परम्परां निर्वहन्ति । अधुना महाभागैरेभिः यजुर्वेदमन्त्रात्मकं काव्यं व्यरचि तेन च विदुषां जिज्ञासूनाञ्च महानुपकारोऽन्यूनो भवेदिति नामास्माकीनो विश्वासः यतोहि दुर्भाग्यतो विस्मृतिपथमागताः स्मृतिपथोऽवतीर्णाः सर्वेपि वैदिका विचारा आर्षपरम्परा धार्मिकसंस्काराश्च पठतां विदुषां मनस्सु पदमादधीरन् । कामयेऽहं भृशं यदस्य महीयसो वैदिकविचारानुप्राणितस्य महतः काव्यस्य निर्मातारः शास्त्रिवर्याः परमनैरुज्यमापन्ना यशोधना सफलमनः–कामनाश्च स्युर्येनागामिन्यप्यनेहसि भूयांसि काव्यानि भव्याश्च रचना विदधीरन् ।

—मनसाराम शर्मा

व्याकरण-वेदान्त-साहित्याचार्य, एम० ए०,
काव्यतीर्थ-साहित्यरत्न पूर्व प्रधानाचार्यः भारतसरकारायत
भगवानदास आदर्श संस्कृत महाविद्यालय,
हरिद्वार ।

श्रीमता कवितार्किकेण सन्तरामशास्त्रिणा विरचितं यजुर्वेदमन्त्रात्मकं काव्यम् मया पूर्णमनोयोगपूर्वकमपाठि । इदं काव्यं शास्त्रिवर्यस्य वैदिकं ज्ञानं काव्यनिर्माणसामर्थ्यं च साधु परिचाययति । ललितललितानां पदानां सन्निवेशः श्लोकेषु सहृदयहृदयावर्जकः । मन्त्रानुसारेण रचितानि पद्यानि पठित्वा तद्गतमाधुर्येण समाकृष्टश्चेतस्काः पाठकाः वेदाध्ययनेऽपि प्रवृत्ता भविष्यन्ति इत्याशास्महे ।

एवम्प्रकारेण भारतीयसंस्कृतेः संस्कृतवाङ्मयस्य च महान् उपकारो भविष्यति ।

वेदेषु संनिहितानाम् उदात्तविचाराणां प्रचारश्च भविष्यति । शास्त्रिवर्याणां काव्यरचना पाटवेनेदं काव्यमनुवादरूपं सदपि काञ्चिद् शैलीगतां मौलिकतां बिभर्ति ।

सुदृढमहं विश्वसिमि यदनेन काव्येन शास्त्रिवर्याणां यशःसौरभं सर्वासु दिक्षु निर्बाधं प्रसरिष्यति ।

एतेषां परिश्रमस्य चारितार्थ्यं कामायमानः ।

—डॉ० कपिलदेव पाण्डेयः

संस्कृत-विभागाध्यक्षः आर्यमहिलाडिग्रीकालेज,
वाराणसी ।

कवितार्किक श्री सन्तराम जी शास्त्री ने प्रभु को पवित्र अमृत वाणी यजुर्वेद के अथाह सागर में डुबकी लगाकर शतैक रत्नों का संग्रह करके उपस्थित किया है। ये सारे के सारे रत्न प्रस्तर खण्ड नहीं हैं, अपितु उस सर्वशक्तिमान् प्रभु की उपासना के देदीप्यमान रत्न हैं, जिनके प्रकाश में मानव-मात्र प्रभु शरण की ओर डग भर सकता है। इन यजुर्वेद की ऋचाओं से शास्त्री जी ने जहाँ स्वयं प्रभु की उपासना से अपना अन्तस्थल आलोकित किया, वहाँ जो मानव वैदिक भाषा से अनभिज्ञ हैं, उनके लिए संस्कृत में कालिदास और भास की शैली पर पद्यात्मक रूपान्तर भी उपस्थित किया है। इतना ही नहीं जो वैदिक भाषा तथा संस्कृत दोनों नहीं जानते उनके लिए हिन्दी रूपान्तर भी उपस्थित किया है।

दोनों रूपान्तर ऐसे अत्यन्त सुन्दर, स्पष्ट, सुगम, सुललित, मनोहारी तथा सुसम्बद्ध रूप में उपस्थित किए गए हैं कि पढ़ते ही बनता है। पद्यानुवाद मूल के अत्यन्त अनुरूप है। प्रभु करे कि यह **"यजुर्वेद मन्त्रात्मकं काव्यम्"** पाठकों के हृदयों में प्रभु की उपासना

की एक निष्ठा लगन उत्पन्न कर सके इससे शास्त्री जी का श्रम ही सफल नहीं होगा, पाठकों को श्रेय की प्राप्ति भी होगी ।

—कृष्णगोपाल आत्रेयः
एम० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत) शास्त्री, प्रभाकर
पूर्वप्राध्यापक म० दा० ए० स० हा० सै० स्कूल,
मोगा ।

कृष्णदत्तः शर्मा शास्त्री
सेवानि० सह जिला विद्या० निरी० तिथि : 5-4-95
81 जवाहरगंज, हापुड़
(गाजियाबाद) उ० प्र०
पत्रांक 23/95

आदरणीय श्री सन्तराम शास्त्रिमहाभागाः !

सादरं वन्दे

यजुर्वेदमन्त्रात्मकं काव्यं पठित्वा मनो मे मुमुदे वस्तुतः साधुवादार्हो भवान् । प्रयासः प्रशस्यः । वर्धापनानि अङ्गीकरणीयानि ।

पत्रोत्तर—प्रतीक्षारतः ।

भावत्कः :
कृष्णदत्तः शर्मा

उल्हास नगर
८–२–९६

आदरणीय पं० सन्तराम जी,

सादर नमस्कार !

आप वेद का संस्कृत श्लोकों में अनुवाद कर रहे हैं । वेद-श्लोक पढ़कर मुझे बहुत आनन्द आया । मैंने भी जो काव्य

लिखे हैं वे आपके पास भेज रहा हूँ । मैंने चच वंश महाकाव्य भी लिखा है उसका संशोधन आप जैसे महान् विद्वान् से करवाना चाहता हूँ । यदि आपके पास समय हो तो मैं उसे आपके पास भेज दूँ । उसमें १२०० श्लोक हैं ।

भवदीय :
शाण्डिल्य

Ex. Prin. H. A. SHANDILYA
BK ; 1451/1 Sec. 31-A
Ullasnagar—421004
D.stt. Thane (Bombay).

प्राक्कथन

वैदिक-वाङ्मय अपनी प्राचीनता, व्यापकता एवम् उदात्त भावनाओं के लिए विश्वभर में विख्यात है। समस्त संसार के पुराविद आज इस बात पर एक मत हैं कि वैदिक—वाङ्मय से प्राचीनतर साहित्य सारी दुनिया में अद्यावधि कहीं भी कोई उपलब्ध नहीं है।

जहाँ, भारतीय जनमानस की वैदिक— वाङ्मय में अति प्राचीन काल से अविच्छिन्न अनन्य निष्ठा तथा वैदिक परम्पराओं के प्रति अपार आस्था सदैव बनी रही है। वहाँ अर्वाचीन काल में कतिपय वैदेशिक विद्वानों ने भी कठोर परिश्रमपूर्वक—वैदिक–वाङ्मय का स्वाध्याय किया, और मुक्त-कण्ठ से वेदों की गौरव—गाथा का गान किया है।

प्राचीन भारतीय परम्परा में वेद, अपौरुषेय, स्वत:प्रमाण एवं ब्रह्मनि:श्वासरूप समादृत होते रहे और भारत में आज भी ऐसी मान्यता रखने वाले विद्वानों की संख्या कम नहीं है।

आम्नाय, निगम, श्रुति, त्रयी, छन्द: और ब्रह्मादि वेद के पर्याय शब्द ही वेदों के अलौकिक महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त हैं।

आधुनिक युग में इतिहास की दृष्टि से वेदों का स्वाध्याय करने वाले विद्वान् भी वेदवर्णित सुव्यवस्थित—विविध प्रसङ्गों को देखकर विस्मित हुए बिना नहीं रहते हैं।

क्योंकि अत्यन्त प्राचीन काल में मानव जाति इतनी सुसंस्कृत एवं तात्त्विक दृष्टि वाली भी हो सकती है। ऐसी तो वे कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

व्यापकता की दृष्टि से भी वैदिक–वाङ्मय स्वयं में अद्वितीय है।

मानव जीवन की ऐहलौकिक अथवा पारलौकिक कोई ऐसी विधा दृष्टगोचर नहीं होती जिसका प्रसङ्ग न्यूनाधिक रूप से वेद में न दिखाई दे।

यही कारण है कि विद्वत्समाज में **"सर्वं वेदे"** अथवा **"सर्वं वेदात्"** जैसी उक्तियां प्रचलित हैं।

इस प्रसङ्ग में मनुस्मृति में उल्लिखित यह श्लोक कि—

"सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥"

उपर्युक्तार्थ की भूतार्थता प्रतिपादित करता है।

इसी प्रकार विशालता की दृष्टि से भी वैदिक-वाङ्मय का अपना एक विशिष्ट स्थान है।

यद्यपि सृष्टि के आदि में वेद एक ही था, उसके चार भाग थे, और उसमें एक लाख मन्त्र थे।

जैसा कि विष्णु पुराण में कहा गया है— अंश ३ अध्याय ४ श्लोक १—

"आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसम्मितः।
ततो दशगुणः कृत्स्नो यज्ञोऽयं सर्वकामधुक् ॥"

किन्तु अठ्ठाईसवें द्वापर में कृष्ण द्वैपायन ने चतुष्पाद-युक्त एक ही वेद के (ऋग्वेदादि) चार भाग किये।

ततोऽत्रमत्सुतो व्यासो अष्टाविंशतिमेऽन्तरे।
वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धाव्यभजत् प्रभुः ॥

(वि० पु० अंश ३ अध्याय ४ श्लोक १२)

उस एक वेद के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार भाग हुए।

फिर उक्त प्रत्येक—भाग शाखा प्रशाखाओं वाले होने से वेदवृक्ष रूपी वन हो गया।

"सोऽयमेको यथा वेदस्तरुस्तेन पृथक् कृतः।
चतुर्धाऽयं ततो जातं वेदपादपकाननम् ॥"

(वि० पु० अंश ३ अध्याय ४ श्लोक १५)

महाभाष्य के प्रथमाह्निक में शब्द के प्रयोग क्षेत्र का परिगणन करते हुए भगवान् भाष्यकार पतञ्जलि वैदिक—वाङ्मय की विशालता भी बताते हैं—

"चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः,
एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः।
एकविंशतिधा वाह्वृचं, नवधाऽऽथर्वणोवेदः ॥"

(व्याख्या महाभाष्य (चारुदेव) पृष्ठ ३५)

इन उद्धरणों से वेद के विस्तार का अनुमान किया जा सकता है।

उदात्त भावनाओं के लिए और तात्त्विकसमीक्षा के लिए तो वेद आज भी सर्वोपरि हैं।

विधिवाक्य एवं निषेधपरक श्रुतियां सभी मानव जीवन को देवत्व से जोड़ने की सुव्यवस्थित प्रक्रियायें हैं। सर्वजनहित, सर्वजन सुख की मूल कल्पना यहाँ यत्र तत्र दृग्गोचर होती हैं।

दार्शनिक दृष्टि से तो वेद के विषय में कहना ही क्या है, सभी भारतीय दर्शनिकों ने वेद को ही परम प्रमाण मानकर अपने-अपने सिद्धान्त एवं अपने-अपने सम्प्रदाय प्रचलित किए।

अतएव दर्शन शास्त्र की भी परा धरा वेद ही है।

इस प्रकार अपार महिमा वाला भो वैदिक-वाङ्मय क्वचिद् अत्यन्त दुरुहतया, वेदार्थ प्रतिपत्त्यर्थं इतिहास और पुराणों की रचना हुई।

स्मृति-शास्त्र तथा शीलाध्यायों की सृष्टि हुई। सूत्र ग्रन्थों का निर्माण हुआ। एवं महाकाव्यों की कल्पना निबद्ध की गई।

उसी पद्धति तथा परम्परा के अनुसार विद्वद् चूड़ामणि, वेद वेदाङ्ग पारङ्गत, शास्त्रनिष्णातमति, अनेकानेक वैदिक पुस्तकों के लेखक, मन्त्रार्थ करते समय मानो स्वयं वेद आपके मुख से बोल रहे हैं,

निरभिमान, स्वच्छ हृदय, सरल प्रकृति वेदोदित मार्गगामी पारिवारिक जीवन भी आपका वेदमय प्रवचन पटु वेदस्वरूप मैंने स्वनामधन्य श्री रामप्रसाद वेदालङ्कार आचार्य एव उपकुलपति गुरुकुल कांगड़ा विश्वविद्यालय (हरिद्वार) द्वारा सङ्कलित **"वैदिक पुष्पाञ्जलि"** नामक ग्रन्थस्थ यजुर्वेद के विभिन्न अध्यायों से उद्धृत एक सौ चार निम्न मन्त्रों का—

अध्याय १ मन्त्र १, ५, ६; अध्याय २ मन्त्र २४, २६; अध्याय ३ मन्त्र १७, ३७, ४५, ५०, ५६, ६०; अध्याय ४ मन्त्र ८, १४, २८; अध्याय ८, मन्त्र ३६; अध्याय ६ मन्त्र २१; अध्याय १० मन्त्र १५; अध्याय ११ मन्त्र एक से ५ तक, ७, १४, ८३; अध्याय १२ मन्त्र १२; अध्याय १४ मन्त्र १७, २०; अध्याय १६ मन्त्र ४१; अध्याय १७ मन्त्र २७, ३१, ६७, ६८; अध्याय १८ मन्त्र ३६, ४६, ४८, ४९, ६६, ७७; अध्याय १९ मन्त्र ९, ३०, ३८, ४०, ४३; अध्याय २० मन्त्र १ से १७, २५; अध्याय २१ मन्त्र १; अध्याय २२ मन्त्र २; अध्याय २६ मन्त्र २४; अध्याय २७ मन्त्र ४३; अध्याय ३१ मन्त्र एक से ८, १२, १४, १५, १८, १९; अध्याय ३४ मन्त्र एक से ६, ३४ से ४०; अध्याय ३५ मन्त्र ४, ८ से १०; अध्याय ३६ मन्त्र २, ३, १२, १४; अध्याय ४० मन्त्र एक से १६।

अल्पविषया मति होते हुए भी यथाशक्ति लौकिक सरल संस्कृत में पद्यानुवाद करने का प्रयत्न किया है। इसमें कोई त्रुटि अथवा कोई दोष दृष्टिगोचर हो तो विद्वद्जन मेरी वैदिक-वाङ्मय में निष्ठा एवं सारस्वत—उपासना की अभिव्यक्ति को देखते हुए स्वतः समाधान कर लेंगे। विद्वज्जनों से ऐसी आशा करना अनुचित न होगा, मैं तो विद्वन् मण्डल की सेवा का ही यह फल अनुभव करता हूँ।

अन्त में मैं आशा करता हूँ, कि मेरी इस कृति से स्वल्प संस्कृतज्ञ तथा हिन्दी का ज्ञान रखने वाले जन साधारण भी वेद निहित तत्त्व को जानने में समर्थ होंगे तथा वैदिक-वाङ्मय का रसास्वाद भी ले सकेंगे।

—सन्तराम शास्त्री

समर्पणम्

मातुः पदाब्जे प्रणिपातपूर्वं
समर्पये काव्यमिदं स्वकीयम्।
तत् - पुण्यपुञ्जैरहमद्य लोके
जातोऽस्मि किञ्चिद् विदुषां गणेषु॥
मातृस्नेहाभिसिक्त —"सन्त"

ात्मकं काव्यम्

ि वेदोदित मार्गगामी पारिवारिक

समर्पणम्

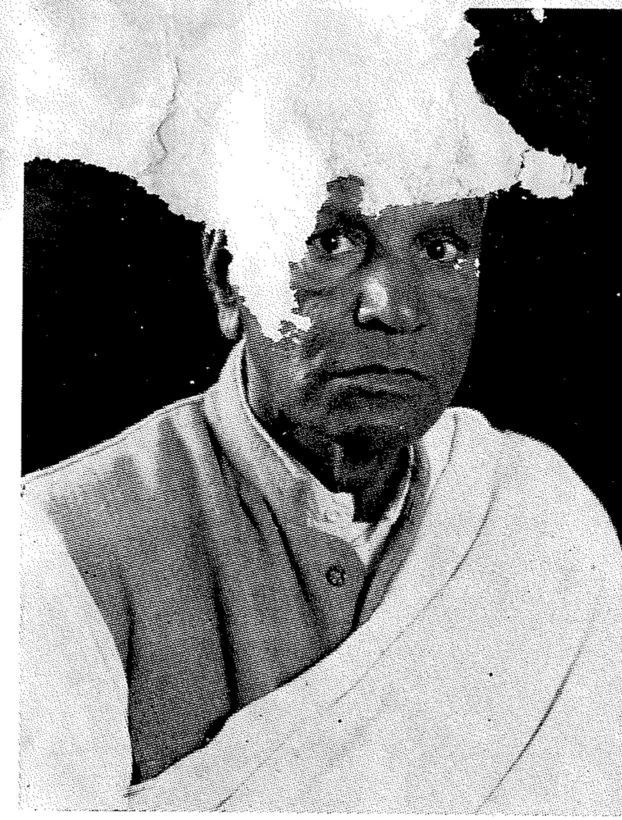

कवितार्किक :

सन्तराम शास्त्री मोगा

कवि की कृतियां :

(१) निर्धन-निकेतनम् ।
(२) वेद मन्त्रात्मकं काव्यम् ।
(३) वंशीधर चरितामृतम्
(४) यजुर्वेदमन्त्रात्मकं काव्यम्
(५) दो प्रकाश्यमान हैं जो शीघ्र छप जाएंगी ।

विनीत—सन्तराम शर्मा

म. नं. 394, गली नं. 6, न्यू टाऊन, मोगा

मङ्गलाचरणम्

वागीश्वरीं भगवतीं सुमतिप्रदात्रीं
विद्याप्रदां सकलविघ्नविनाशयित्रीम् ।
नत्वाद्यमातरमहं शरणं प्रपन्नः
वेदात्मकं विरचयामि नवीनकाव्यम् ॥

सद्बुद्धि तथा सद्विद्या प्रदान करने वाली एवं समस्त विघ्नों का नाश करने वाली, भगवती वागीश्वरी माँ सरस्वती की चरण शरण में बार-बार नमस्कार कर, मैं आज वेदात्मक एक नवीन काव्य की रचना करता हूँ।

भोलीदेवीं परमसुखदां मातरं जन्मदात्रीं
पूर्वं नत्वा तदनु पितरं वेददीप्त्या प्रदीप्तम् ।
ज्योतीरामं गुणिगणनुतं स्निग्धचित्तं प्रणम्य
काव्यं पूतं रचयितुमयं सन्तरामः प्रवृत्तः ॥

जन्मदायिनी परम-सुख देने वाली माँ भोलीदेवी को पहले नमस्कार करके तत्पश्चात् गुणवानों से नमस्कृत, वेदज्ञान से देदीप्यमान स्निग्धचित्त पिता श्री ज्योतीराम को नमस्कार करके यह सन्तराम पवित्र काव्य को रचना करने लगा है।

विद्वद्वराणां पदपङ्कजानां
रजःकणान् मूर्ध्नि निधाय भक्त्या ।
काव्यं यजुर्वेदसुमन्त्रनिष्ठं
कर्तुं प्रवृत्तोऽस्मि विमुक्तयेऽहम् ॥

भगवती सरस्वती के उपासक महान् विद्वानों की चरण कमलों की रज को भक्तिपूर्वक मस्तक पर लगा कर मैं (सन्तराम) संसार बन्धनों से मुक्त होने के लिए यजुर्वेद-मन्त्रात्मक-काव्य की रचना करने लगा हूँ।

यजुर्वेदमन्त्रात्मकं काव्यम्

ॐ इषेत्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽ आप्यायध्वमघ्न्याऽ इन्द्रायभागं प्रजावतीरनमीवाऽयक्ष्मा मावस्तेन ईशतमाघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥ (यजु०, १. २)

तपः - श्रुति - ब्रह्म - विचारकेभ्यः
स्व - साधकेभ्यः सविता प्रभूतम् ।
अन्नं बलं यच्छति तेऽपि तस्माद्
वायोः समं शक्तिमवाप्नुवन्ति ॥ १ ॥

तपस्या और वेद के द्वारा ब्रह्म का विचार करने वाले अपने साधकों के लिए सविता देवता प्रचुर अन्न और बल देते हैं। वे साधक भी उस सर्वोत्पादक सविता देवता से वायु के समान शक्ति प्राप्त करते हैं अर्थात् शक्तिशाली बन जाते हैं।

सत्कर्मकर्तुं पुनरेष देवः
कर्मेन्द्रियाणि प्रसभं समेषाम् ।
ज्ञानेन्द्रियाणीह तथैव तूर्ण
ऽहिंसकान्येव करोति नूनम् ॥ २ ॥

फिर वही प्रकाश स्वरूप परमपिता, सर्वैश्वर्यों का दाता, परमात्मा तुम्हारी समस्त कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को इस संसार में देखते ही अहिंसक बनाए, जिन से तुम शुद्धाचरण कर सको।

अहिंसकान्येव तवेन्द्रियाणि
स्वात्मानमुद्धर्तुमथोद्यतानि ।
प्रचण्डवायोरिव संगतानि
विघ्नान् निहन्तुं सततं यतन्ते ॥ ३ ॥

हे साधको ! तुम्हारी उचित दिशा में ले जाने वाली गतिशील वे इन्द्रियाँ सब मिलकर आत्मोद्धार के लिए सदा उद्यत रहती हैं। उसमें आने वाली विघ्नबाधाओं को निरन्तर बहने वाली तेज वायु के समान उखाड़ फेंकती है। अर्थात् जैसे आन्धी बड़े-बड़े वृक्षों को जड़ से उखाड़ कर फेंक देती है, उसी प्रकार समस्त रुकावटों को नष्ट कर देती हैं।

क्षयादिरोगैं रहितानि तानि
सर्वेन्द्रियाणि प्रजने रतानि ।
पिण्डाधिपं शीघ्रमितः शरीराद्
ब्रह्माण्डराजस्य नयन्तु पार्श्वे ॥ ४ ॥

भयङ्कर से भयङ्कर महान् क्षयादि रोगों से रहित सन्तानोत्पत्ति में एवं अन्य अन्य कार्यों में लगी हुई तुम्हारी इन्द्रियाँ अपनी अनुपम शक्ति द्वारा इस पिण्ड के स्वामी आत्मा को समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी परमात्मा के पास ले जायें। अर्थात् इस नश्वर शरीर मानव देह की इन्द्रियाँ ही कर्म की प्रेरणा देती अथवा करती हैं। अतः उन्हीं इन्द्रियों को सन्मार्ग की ओर ले जाने के लिये कहा गया है कि तुम शरीराधिपति आत्मा को उस ब्रह्माण्ड के स्वामी परम पिता परमात्मा के पास ले जाओ।

न स्तेनवृत्तिर्भवतां मनस्सु
कदापि कुर्यादथ कुप्रभावम् ।
न कोऽपि पापेरितदुष्टभावो
मनोविकारं जनयेत् कदाचित् ॥ ५ ॥

चोरी आदि की दुष्प्रवृत्ति तुम्हारे मनों में कुप्रभाव न डाल सके — अर्थात् किसी सुन्दर वस्तु को देख कर चक्षु तुम्हें उसको चुराने के लिए बाध्य न करें एवं न ही पाप प्रेरित कोई दुष्ट भावना तुम्हारे मन को कभी भी किसी प्रकार विकृत कर सके।

अहिंसकानि प्रथितेन्द्रियाणि
यूयं स्वसंरक्षकमात्मवेवम् ।
सेवध्वमित्थं मनसाऽचलेन
पशून् स पात्वत्र च साधकस्य ॥ ६ ॥

हे गतिशील ! समस्त शक्ति सम्पन्न इन्द्रियो ! तुम अपने रक्षक, पालक तथा पोषक, अपने इस आत्मा की दृढ़ता से निश्चल भाव से रक्षा करती रहो। हे सविता देव ! परमपिता परमात्मन् ! तू साधना रूप यज्ञ में लगे सच्चे उपासक की साधक की इन इन्द्रियरूपी पशुओं की रक्षा कर। जिस से वह अपने साधना रूप यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण कर सके।

"इन्द्रियाणि वै पशवः" पश्यन्ति विषयाननुभवन्ति इति पशवश्चक्षुरादीनि–इन्द्रियाणि ।

कर्तव्यमस्माविह साधकस्य
धर्मानुरूपं धनमर्जनं स्यात् ।
तस्योपभोगोऽपि तदर्थमेव
करोति यश्चात्र स तत्त्वविज्ञः ॥ ७ ॥

अतः प्रत्येक साधक का यह कर्तव्य बनता है कि धर्मानुसार धन संग्रह करें तथा उसका उपभोग भी धर्मानुसार सत्कार्य में करे, जो इस प्रकार करता है, वह वास्तव में परमात्म-तत्त्व को जानने वाला है।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ (यजु०, १०५)

व्रताधिपाग्ने ! व्रतपालनाय
शक्तो भवेयं जगतीह सद्यः ।
तच्चेदमस्ति व्रतमुत्तमं मे
यतोऽनृतात् सत्यमुपैमि नूनम् ॥ ८ ॥

समस्त व्रतों के पालक, प्रकाश पुञ्ज, हृदयान्धकार को दूर करके ज्ञान के द्वारा प्रकाशित करने वाले सर्वाग्रणी परमात्मन् ! मैं इस संसार में निर्दिष्ट शास्त्र-सम्मत व्रतों को अर्थात् संसार की समस्त मर्यादाओं को पूर्ण रूप से पालन करने में शक्तिशाली बनूं। सर्वोत्तम मेरा वह यह व्रत है। मैं इस झूठ-मूठ के संसार से सदा स्थिर रहने वाले सत्य को निश्चित रूप से प्राप्त करूं।

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति ।
तस्मै त्वा युनक्ति कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥
(यजु०, २. ६)

युनक्ति कस्त्वां भुवि सत्यमार्गे
प्रजापतिस्त्वां मनसा नियुङ्क्ते ।
युनक्ति कस्मै परमेश्वरस्त्वा
मध्यात्मयज्ञस्य सुसेवनाय ॥ ९ ॥

हे व्रतादिक नियमों के पालन करने वाले साधक ! तुझे सत्य के [मा]र्ग पर कौन लगाता है, विचार तथा अनुभव से तुझे मालूम होगा कि [व]ह परमेश्वर तुझे सत्य से नियुक्त करता है। वही ईश्वर प्रेरणा देकर [स]दाचरण के लिए विवश कर रहा है। वह किस अभिप्राय से तुझे [सत्]य की ओर लगा रहा है। स्वयं विचार करने से मालूम होगा, कि वह [अध्]यात्म यज्ञ की पूर्ति के लिए, ईश्वर दर्शन के लिए ही लगा रहा है।

सत्यं हि सर्वत्र विशिष्टमस्ति
वेदोऽपि सत्यार्थमथ ब्रवीति ।
स्वीकृत्य पन्थानमिमं हि लोके
भवन्ति सर्वे सुखिनो मनुष्याः ॥ १० ॥

सबसे विशेष यदि कुछ है तो वह सत्य ही है। वेद भी सत्य-[स्व]रूप प्रभु की प्राप्ति के लिए ही बार-बार कहता है। इस सत्य मार्ग [को] स्वीकार करके ही संसार के सब मनुष्य सुखी होते हैं। इसके [अ]तिरिक्त परमसुख का कोई रास्ता नहीं।

अध्यात्मयज्ञस्य निषेवणाय
सत्यस्वरूपः स उभौ नियुङ्क्ते ।
अध्यात्मयज्ञाचरणं विधातुं
पुनः पुनस्तत्र युनक्ति सत्ये ॥ ११ ॥

वही परमेश्वर उच्चतम श्रेष्ठतम कर्म अध्यात्म यज्ञ करने के [लि]ए तुम दोनों पति पत्नी को वा गुरु और शिष्य को लगाता है। [के]वल इतना ही नहीं बल्कि उस अध्यात्म यज्ञ में व्याप्त होने के लिए [उस]में घुल-मिल जाने के लिए तुम्हें सदा के लिए नियुक्त करता है।

सं वर्चसा पयसा संतनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टासुदत्रोविदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वोयद्विलिष्टम् ॥
(यजु०, २. २४)

घृतेन दुग्धेन च पौष्टिकेन
वर्चस्विनो शक्तियुता प्रभूय ।
स्वस्थैर्निजाङ्गैर्वपुषः प्रकर्ष-
वर्धामहे सर्वजनेषु नित्यम् ॥ १२ ॥

घी दूध आदि पौष्टक पदार्थों से हम वर्चस्वी तथा बलशाली होकर अपने स्वास्थ तथा उत्तम और विकाररहित शारीरिक अङ्गों से संसार में सदा बढ़ें अर्थात् घी दूध से संवर्धित ब्रह्मचर्यादि से तेज युक्त होकर हम संसार में अलौकिक तथा दिव्य शोभा सम्पन्न हों। हमारा सानी कोई दूसरा न हो ।

श्रेयस्करी मे मनसः प्रवृत्तिः
सर्वोत्तमा सर्वहितैषणी स्यात् ।
अङ्गानि नो वा विकृतानि यानि
करोतु सुष्ठूनि स तानि देव ॥ १३ ॥

हमारे मन की पवित्र प्रवृत्ति सबसे उच्च और सुन्दर सब का हित करने वाली तथा कल्याण करने वाली हो। वह जगत्कर्ता प्रभु तथा सब ऐश्वर्यप्रद धन आदि का दानी हमारे शरीर के विकृत हुए अङ्गों को पुनः ठीक ढंग से संशोधित करके बलिष्ठ और सुन्दर बनाए ।

स्वयंभूरसिश्रेष्ठोरश्मिर्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि ।
सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥ (यजु०, २. ३६)

प्रभो स्वयंभू जगति त्वमेव
श्रेष्ठोऽसि रश्मिस्तव दिव्यदीप्तिः ।
तेजोऽसि तेजो मयि धेहि देव
सूर्यस्य वा ते सदृशो भवानि ॥ १४ ॥

हे प्रभो ! तू सर्वशक्तिमान् है तथा अपनी इच्छा से इस संसार में अपने आप होने वाला है, क्योंकि तू अपने आप में वर्तमान है। निश्चित रूप से अति रमणीय तथा सर्वोत्तम अपनी अलौकिक कान्ति सम्पन्न दिव्य रश्मि है अर्थात् संसार में सर्व प्रशंसित प्रकाश प्रवाह है। हे देव ! तू समस्त तेज का दाता है, अतः मुझे भी अपना तेज प्रदान कर जिससे मैं संसार में वर्चस्वी बनूं तथा अन्याय का सामना कर सकूं। मैं सूर्य अथवा तेरे समान हो जाऊं फिर आप दोनों के समान आचरण करूँ।

तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्मऽआपृण ॥ (यजु०, ३. १७)

गोप्ता त्वमग्ने ! वपुषामतो मे
संरक्षकः किञ्च दयार्द्रचित्तः ।
आयुःप्रदाग्ने ! कुरु मे चिरायुः
तेजःप्रदत्वात् मयि धेहि तेजः ॥ १५ ॥

हे प्रकाशस्वरूप सर्वाग्रणी ज्ञानप्रदाता भगवन् ! तू समस्त शरीरों का रक्षक है। अतः हे दयालो ! मेरे शरीर को रक्षा कर हे ज्ञानवर्धक प्रभो ! तू आयु का दाता है अतः मुझे चिरजीवी बना। जिससे आयु पर्यन्त आपके गुणगान कर सकूं। तू दिव्य तेज का दाता है अतः मुझे अपना विलक्षण तेज दे, जिससे कोई चरित्रहीन व्यक्ति सामने न आ सके ।

अस्मच्छरीरे त्रुटिरस्ति या च
तां चापनेतुं त्वयि शक्तिरस्ति ।
बद्धाञ्जुलिस्त्वां प्रणमामि तस्मात्
तामूनतां शीघ्रमपाकुरुष्व ॥ १६ ॥

हे दिव्यप्रकाशाधिपते ! परमात्मन् ! हमारे शरीर में संग के कारण अथवा स्वाभाविक जो कमी है उसको दूर करने के लिए एक मात्र तू समर्थ है। अतः हाथ जोड़कर साष्टांग प्रणाम करता हुआ प्रार्थना करता हूं। हे प्रभो ! मेरी उस त्रुटि-कमी को दूर करो।

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः । नर्य प्रजां मे पाहि शंस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ (यजु०, ३०. ३७)

श्रीसच्चिदानन्द ! दयानिधे ! त्वं
प्राणादिवातान् मनसा नियम्य ।
प्रजासु वीरेष्वथ पुष्टिमत्सु
भवानि चाहं सकलाग्रगण्यः ॥ १७ ॥

सत् चित् ग्रानन्दस्वरूप दयालो ! तेरी कृपा से प्राण अपान व्यानादि वायु को मन से सम्यक्तया नियमित तथा युक्तियुक्त करके प्रजाओं में प्रजा से अर्थात् योग्य सन्तान से और वीरों में वीरता में पौष्टिक पदार्थों से सुपुष्ट बनकर सब से अग्रणी हो जाऊँ ।

भक्तानुकम्पिन् ! जनतापहारिन् !
त्वं मे प्रजां पाहि सदा दयालो ।
स्तुत्योऽसि सद्भिर्भुवि मानवेषु
तस्मात् पशून् पाहि ममाद्य देव ॥ १८ ॥

भक्तजनों पर दया करने वाले, दुःखित प्राणियों के दुःख दूर करने वाले दयालो ! तू मेरी प्रजा सन्तान आदि की रक्षा कर इस संसार के बड़े बड़े सच्चरित्र विद्वानों तथा महापुरुषों से प्रशंसनीय भगवन् ! तू आज मेरे पशुओं की रक्षा कर इसका भाव यह है तू दयालु है और दुःख दारिद्र्य दूर करने वाला है अतः मेरी सन्तान तथा पशुओं को अथवा समस्त इन्द्रियों की रक्षा कर ताकि मैं सदा आपका स्मरण करता रहूं ।

संसारदुःखौघ - विनाशकारिन्
सम्प्रार्थयेऽहं तव पाद-पद्मे ।
संरक्ष चान्नं बलवर्धकञ्च
तेनैव कर्तुं प्रभवानि सर्वम् ॥ १९ ॥

समस्त संसार के दुःखों के समूह को नाश करने वाले, मैं तेरे चरणकमलों में प्रार्थना करता हूँ । भगवन् बलवर्धक मेरे अन्न की तू रक्षा कर उस बलवर्धक तथा स्वादु अन्न से मैं सब कुछ करने में समर्थ होऊँ ।

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदव यजामहे स्वाहा ॥
(यजु०, ३. ४५)

ग्रामे वने चाथ महानगर्यां
विद्वत् - सभायां रहसि क्वचिद्वा ।
निजेन्द्रियैर्यत् कृतमत्र पापं
त्यक्तं मया तज् जनतासमक्षे ॥ २० ॥

मैंने जो पाप, दुर्व्यवहार अथवा छल-कपट किसी ग्राम अथवा बीहड़ निर्जन जंगल में या किसी शहर में या विद्वानों अथवा महापुरुषों की सभा में एवं एकान्त में अपनी जननेन्द्रिय अथवा चक्षु, कान आदि से किया है । उसे आज सब लोगों के सामने सदा के लिए छोड़ता हूँ ।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥
(यजु०, ३. ५०)

प्रियोऽसि हे साधक सर्वदा मे
ब्रवीम्यतोऽहं तव मङ्गलाय ।
त्वं देहि मह्यं ननु भक्तिभावं
दास्यामि तुभ्यं प्रणयेन सर्वम् ॥ २१ ॥

परमात्मा मनुष्य, प्राणी अथवा जीव से कहता है—हे प्यारे साधक ! तू मेरा सब तरह से प्रिय तथा अभीष्ट है, इसलिए मैं तेरा कल्याण अथवा भला करने के लिए कह रहा हूँ । तू मुझे श्रद्धापूर्वक भक्तिभाव दे, मैं भी प्रेम से उसी प्रकार तुझे सब कुछ दूंगा । श्रीकृष्ण ने गीता में यही कहा है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" ।

त्वमद्य मां धारय धारयामि
त्वामत्र सत्यं भवतारणाय ।
प्रियोपहारं प्रतियच्छ मह्यं
तथा प्रदास्याम्युपहारमेवम् ॥ २२ ॥

हे प्यारे सच्चे उपासक ! तू मुझे धारण कर मैं तुझे संसार सागर से पार करने के लिए धारण करूंगा । हे प्रिय ! तू मुझे उपहार दे, मैं तुझे अच्छी से अच्छी भेंट देता रहूँ । इस प्रकार हम दोनों का अलौकिक व्यवहार चलता रहे. फिर संसार का कोई दूषित प्रभाव नहीं हो सकता, भाव यह है कि तू मेरा बन कर रह, मैं तुझे अपना बनाकर रखूंगा ।

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः ।
प्रजावन्तः सचेमहि ॥ (यजु०, ३. ५६)

सौम्य - स्वभावान्वित - सोमदेव
सौम्यप्रकृत्या विदधासि यत्त्वम् ।
ततो वयं त्वां मनसा स्मरन्तो
याचामहे सानुनयं प्रशस्तम् ॥ २३ ॥

हे सौम्य गुण सम्पन्न भगवन् ! तू अपनी सौम्य प्रकृति के अनुसार संसार के प्राणियों के लिए जो कुछ करता है वह अनुपम है। उसी कारण हम आपको सच्चे हृदय से याद करते हुए नम्रतापूर्वक तुझ प्रशंसनीय प्रभु से याचना कर रहे हैं ।

वयं स्थितास्ते व्रतपालनाय
मनः शरीरे विनियम्य सम्यक् ।
आत्मेन्द्रियाणामधिपा हि भूत्वा
सेवामहे त्वां नियमानुसारम् ॥ २४ ॥

हम आपकी समस्त मर्यादाओं का पालन करने के लिए मन को सांसारिक विषयों से अच्छी तरह अपने शरीर में नियमन करके अर्थात् रोक करके अपनी समस्त इन्द्रियों के स्वामी बनकर नियमानुसार तेरी सेवा में लगे रहें, अर्थात् तेरी सेवा में पूर्ण रूप से आत्मार्पण कर दें ।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥
(यजु०, ३. ६०)

गन्धस्य पुष्टेरपि वर्धकञ्च
तं त्र्यम्बकं देवमनन्तरूपम् ।
भजामि मुक्त्यै हि यथा स्वबन्धाद्
उर्वारुकं मुच्यत उत्तरत्र ॥ २५ ॥

जिस प्रकार खरबूजा पक कर अपने बन्धन बेल से अलग हो जाता है और संसार को अपनी सुगन्ध तथा मिठास देता है उसी प्रकार सुगन्धि और पुष्टि (स्वास्थ्य) को बढ़ाने वाले अनन्त दिव्य प्रकाशों से प्रकाशित उस त्र्यम्बक-ज्ञान कर्म उपासना रूप तीनों वेदों के उपदेष्टा प्रभु का स्मरण करके मृत्यु से मुक्त होकर अमृतत्व को पाकर निरन्तर भजन करूँ उसकी कृपा-वर्षा का अमृत पान करूँ ।

सुगन्धियुक्तं पतिमत्र बुध्वा
वेदात्मकज्ञान - विवर्धकञ्च ।
भजामि मोक्षाय यथा स्व-बन्धाद्
उर्वारुकं मुच्यत उत्तरत्र ॥ २६ ॥

समस्त संसार को अपनी निर्मल गन्ध से सुगन्धित करने वाले सुगन्धियों के पति, स्वामी, वेदज्ञानप्रद प्रभु की पूजा करें फिर हम उसकी अनुपम दया-दृष्टि से सुगन्धियुक्त अपने बन्धन से छुटकारा पाने वाले मिठास भरे खरबूजे की तरह इस मृत्यु-रूप मृत्युलोक से छूट जाएं। अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाकर उस अमर लोक को प्राप्त करें ।

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् ।
विश्वोरायऽइषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥
(यजु०, ४. ८)

नेतृत्वकार्ये सफलस्य तस्य
सर्वे मनुष्याः प्रणता विनम्राः ।
अध्यात्मयज्ञस्य विधायकस्य
कुर्वन्तु मैत्रीं परमात्मनो हि ॥ २७ ॥

संसार के सब मनुष्य नम्रतापूर्वक झुक कर, नेतागिरी में अनुपम कार्य करने वाले उस परमदेव परमात्मा से मित्रता करें, क्योंकि वही अध्यात्म-यज्ञ का विधायक तथा पूर्ति करने वाला है। आत्मोत्थान वही कर सकता है।

तमेव सर्वे मनुजाः पृथिव्यां
याचन्तु दिव्यां परमां विभूतिम् ।
पुष्टयर्थमन्नं च धनं च धान्यं
तथैव देयं ह्युपदेश एषः ॥ २८ ॥

संसार के सब मनुष्य उसी परमात्मा से दिव्य तथा अलौकिक ऐश्वर्य की याचना करें और उसी से बार-बार शरीर तथा आत्मा को पुष्ट करने वाले धन तथा अन्न की याचना करें। यही वेद का उपदेश है। वेद भगवान् के मुख से निकली पवित्र वाणी है, अतः उसका उपदेश सर्वथा ग्राह्य है।

अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सु मन्दिषीमहि ।
रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥
(यजु०, ४. १४)

अस्मत् - प्रसुप्ते त्वयि च प्रबुद्धे
चिन्ता न चाग्ने! भवदाश्रयत्वात् ।
त्वं जागरूकोऽसि सदास्मदर्थ-
मतो वयं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥ २९ ॥

हे प्रकाशस्वरूप, ज्ञानात्मक, सर्वाग्रणी, परमात्मन्, हमारे रात को सो जाने पर तू सदा जागता है। इसीलिए तेरे आश्रित होने के कारण हमें कोई चिन्ता नहीं अर्थात् निश्चिन्त सुखपूर्वक सो जाते हैं। तू हमारे लिए सदा जागरूक बनकर तथा दत्तचित्त होकर हमारी रक्षा करता है, अतः हम तेरी शरण में पड़े हैं।

त्यक्त्वा प्रमादं कुरु रक्षणं नो
निबोधयास्मांश्च पुनः प्रभाते ।
ततो वयं त्वां भवतापहारं
हर्षप्रकर्षेण सदा स्मरामः ॥ ३० ॥

हे सर्वाग्रणी भगवन्! तू प्रमाद को छोड़ कर हमारी रक्षा कर और फिर हमें प्रातःकाल जगा। समस्त संसार के सन्ताप को दूर करने वाले परमात्मन्! हम आपको निरन्तर हर्ष में विभोर होकर याद करें अर्थात् तेरी भक्ति में आप्लावित होकर तेरे ही चरण-कमलों का चिन्तन करते रहें। इसका भाव यह है कि हम जब तेरे आश्रित होकर रहेंगे तो हमें कोई चिन्ता न होगी, तू ही हमारी सदा देख-रेख करता रहेगा।

परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज ।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतां अनु ॥
(यजु०, ४. २८)

दुष्कर्मणो रक्ष सदैव चाग्ने !
नियुज्यतां सच्चरिते तथा माम् ।
तस्मादहं ते कृपया परेश !
मुक्तात्मनां मार्गमनुव्रजानि ॥ ३१ ॥

हे ज्ञानस्वरूप जगदीश्वर! प्रभो! मुझे दुष्चरित्र से बचा मुझे कोई कुकर्म विवश न कर सके। इसके अतिरिक्त मुझे सदा शुभ कार्यकारी सच्चरित्र बना, अतः हे परमात्मन् तेरी दया से मैं जीवन-मुक्त अमृत तत्त्व प्राप्त करने वाले महापुरुषों के मार्ग का अनुकरण कर सकूं अर्थात् सन्मार्ग को अपनाऊँ।

दीर्घायुषाहं तव पादपद्मे
धर्मानुसारं परिवर्तमानः ।
भूत्वा चिरायुर्वयसा हि तेन
समुन्नतं जीवनमानयामि ॥ ३२ ॥

हे प्रकाश-स्वरूप सर्वाग्रणी प्रभो ! धर्मानुसार सद्व्यवहार करता हुआ अर्थात् सत्यभाषण आदि तेरे नियमों का पालन करता हुआ मैं चिरायु होकर उसी दीर्घायु द्वारा अपने जीवन को उन्नत अर्थात् ऊंचा उठा सकूं ।

यस्मान्न जातः परोऽअन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ (यजु०, ८. ३६)

यस्मान्न जातो हि परश्च नान्यो
न तस्य तुल्यः किमुताधिको वा ।
स एष जातो भुवनेषु चैको
व्याप्तः स सर्वत्र सदा जगत्याम् ॥ ३३ ॥

जिस जगदाधार प्रभु से बढ़कर संसार में कोई और पैदा नहीं हुआ वह प्रभु संसार से निराला है । उससे उत्कृष्ट होने की बात तो अलग रही प्रत्युत उसके समान भी कोई नहीं हुआ । वही दिव्य शक्ति ऐसी अनुपम हुई है । उस अकेले ने समस्त लोक-लोकान्तरों को व्याप्त कर रखा है अर्थात् वह सर्वत्र व्यापक है ।

प्रजापतिः स्व - प्रजया सहैव
सदात्मनः षोडशभिः कलाभिः ।
प्रसन्नचित्तो रमते स सूर्यं
प्रकाशयत्यत्र च विद्युदग्नी ॥ ३४ ॥

वह प्रजापति जगदाधार परमात्मा अपनी प्रजारूपी सन्तान से अपनी समस्त कलाओं से इच्छा आदि सोलह कलाओं से प्रसन्नचित्त आनन्द-स्वरूप सर्वदा रमण करते हैं । वह तीन महान् ज्योतियों को अर्थात् सूर्य, बिजली, अग्नि को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है— उन्हीं के द्वारा संसार का उपकार करता है ।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्टं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पतां प्रजापतेः प्रजा अभूम स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम ॥ (यजु०, ६.२१)

चक्षूंषि कर्णाविव पृष्टभागं
प्राणास्तथायुर्वपुषोऽन्यभागाः ।
यज्ञेन यज्ञः परिवर्धताञ्च
प्रजापतेः स्याम वयं प्रजा हि ॥ ३५ ॥

नेत्र, कान तथा पीठ, प्राण, आयु एवं शरीर के अन्य भाग और यज्ञ से सब यज्ञ के द्वारा बढ़ें अर्थात् इनमें असीम शक्ति आ जाए आंखें दूर तक देख सकें, कान प्रत्येक धीमी ध्वनि सुन सकें, पीठ में सहन करने की शक्ति तथा शरीर को संतुलित रख सकें प्राण महान् शक्ति-युक्त हों तथा दीर्घ आयु को प्राप्त करके हम उस सच्चे प्रजापति प्रभु की प्रजा हों ।

अनेन लोके शुभकर्मणैव
देवाः प्रकृष्टं सुखमाप्नुयाम ।
ततो वयं नित्यमतिप्रसन्नाः
संसारचक्राद्धि भवेम मुक्ताः ॥ ३६ ॥

इस यज्ञरूपी शुभ कर्म से हम दिव्य देव बनकर विशेष आनन्दप्रद सुख को प्राप्त करें । उसी से हम नित्य-प्रति प्रसन्न होकर जीवन व्यतीत करें तथा इस संसार चक्र से अर्थात् जीवन मरण से छुटकारा पाकर मुक्त हो जायें, उस जगदाधार प्रभु से मिल जाएं, भाव यह है यज्ञादि शुभ कर्मों द्वारा मनुष्य अपने जीवन सफल बना सकते हैं । इसके अतिरिक्त मानव जीवन वास्तविक जीवन नहीं ।

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात् ।
मृत्योः पाह्योजोऽसि सहोऽस्यमृतमसि ॥
(यजु०, १०. १५)

प्रभासि सोमस्य चयस्त्विषां वा
वाञ्छाम्यहं ते सदृशं प्रकाशम् ।
तेजःस्वरूपो बलवाननन्य
स्त्रायस्व मृत्योरमरस्वरूप ! ॥ ३७ ॥

हे परमात्मन् ! तू समस्त सद्गुणों तथा महान् से महान् ऐश्वर्यों का प्रकाशक है। तू सोम की दिव्य दीप्ति है अथवा सब दीप्तियों का समूह है इसलिए मैं चाहता हूँ। तेरे जैसा मेरा भी प्रकाश हो तेज हो, तू तेजस्वी और बलशाली है। तू बल का स्वामी है। अतः हे सौम्य गुणों के स्वामिन्! मुझे भी सदा के लिए मृत्यु से छुटकारा दिला कर अमर करो, क्योंकि तू स्वयं अमर स्वरूप है। मृत्यु कभी तेरा पीछा नहीं कर सकती।

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या ऽ अध्याभरत् ॥
(यजु०, ११. १)

योगक्रियायामभिदत्तचित्त
स्तत्त्वञ्च वेत्तुं स्वमनो नियम्य ।
पश्चाच्च वृत्तीरपि संनियम्य
योगप्रवृत्तो यतते तदाप्तुम् ॥ ३८ ॥

योगाभ्यास में दत्तचित्त मनुष्य भगवत्तत्त्व को जानने के लिए मन को अच्छी तरह नियन्त्रित करके धारणवृत्तियों को भी सम्यक्तया अपने वश में रख कर उस परम तत्त्व को पाने के लिए निरन्तर योगाभ्यास करता है।

ज्ञानस्वरूपस्य महाप्रकाशं
निश्चित्य चित्ते हि करोति साक्षात् ।
उत्तिष्ठते पार्थिवकर्मभोगाज्
ज्ञात्वा च तत्त्वं भवतीश्वरः सः ॥ ३९ ॥

ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का महान् और दिव्य प्रकाश का मन में निश्चय करके फिर उस दिव्य ज्योति का दर्शन पाकर उस प्रकाश से निहाल होकर ऊपर उठ जाता है अर्थात् पार्थिव भोग-विलासों में न फँस कर ऊँचा उठ जाता है। पार्थिव भोग उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। उस महान् तत्त्व को जानकर वह स्वयं ईश्वर हो जाता है अर्थात् अपने आपको परब्रह्म में विलीन कर देता है।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ (यजु०, ११, २)

सर्वेश्वरस्य स्वगुणैकधाम्नो
विनिर्मितायां सवितुः पृथिव्याम् ।
वयं तथैकाग्रमनःप्रशान्ताः
स्वर्गस्य प्राप्त्यै प्रयतामहेऽत्र ॥ ४० ॥

अपने सद्गुणों—विचित्र तथा निराले गुणों के एक मात्र निवास स्थान उस सर्वोत्पादक, सर्वेश्वर के रचित इस संसार में स्वर्ग तथा विशेष सुख की प्राप्ति के लिए सुख के स्रोत उस परमदेव परमात्मा का चिन्तन करते हुए एकाग्र मन तथा शान्त भाव से हम प्रयत्न करते हैं।

एकाग्रचित्ताश्च वयं विनम्रा
सुखाप्तये दिव्यगुणाकरस्य ।
मनुष्यमात्रप्रभवस्य तस्य
कृपैकसिन्धोः शरणं प्रपन्नाः ॥ ४१ ॥

हम विनम्र तथा एकाग्रचित्त, उस दिव्य गुणों के भण्डार, मनुष्य मात्र के उत्पत्ति के कारण, स्वर्ग तथा विशेष सुख की प्राप्ति के लिए प्रार्थनापूर्वक उस करुणाकर की शरण में उपस्थित हैं।

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवतिवान् ॥
(यजु०, १२. ३)

स्वर्गोन्मुखाग्रं प्रति साधकञ्च
ज्ञानेन तृप्तं परमात्मनिष्ठम् ।
आत्मानुसंधानपरं च नित्यं
सोत्साहितं तं सविता करोति ॥ ४२ ॥

ज्ञानात्मक सद्बुद्धि से तृप्त, परमात्मचिन्तन में लीन, आत्मान्वेषण में तत्पर विशेष सुख के लिए अग्रसर अपने प्रत्येक साधक को सर्वोत्पादक प्रकाशात्मक परमात्मा सदा उसे उत्साहित करता है।

इसका भाव यह है मनुष्य यदि सदा अपने आपको ईश्वरार्पण कर देता है तो ईश्वर स्वयं उसे अपनी ओर लाने के लिए प्रेरित करता है।

सर्वप्रियं सर्वगुणानुरक्त-
मुद्योगिनं सर्वजनाग्रगण्यम् ।
प्रज्ञान्वितं बुद्धिमतां वरिष्टं
तं बुद्धियुक्तं सविता विधत्ते ॥ ४३॥

सब के प्यारे सब श्रेष्ठ गुणों से भरपूर, सदा प्रयत्नशील, विशेष प्रतिभा सम्पन्न, परमोत्कृष्ट, बुद्धिमानों में उत्तम सर्वगण्य-मान्य, मनुष्य मात्र से अग्रणी, अपने उस सच्चे साधक को परमज्योति सच्चिदानन्द सदा बढ़ाता है, ऊपर उठाता है अर्थात् सब ऋद्धि-समृद्धियों से भरपूर कर देता है—प्रत्येक प्रकार से निहाल कर देता है।

ज्योतिःप्रकाशं समवाप्तुमुत्काः
ये सन्ति लोके पुरुषार्थशीलाः ।
संदर्शनं कारयितुं हि तेषां
सदोद्यतोऽसौ सविता प्रशस्तः ॥ ४४॥

महान् प्रकाशों को प्रकाशित करने वाले, संसार के महान् उपकारक सूर्य, चन्द्र, अग्नि को भी प्रकाशित करने वाले, सर्वोत्पादक, जगत्-पिता, प्रशंसनीय परमेश्वर, दिव्य प्रकाश बृहज्ज्योति परब्रह्म को प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित तथा प्रयत्नशील अपने सच्चे साधकों को उस महान् ज्योति का, परमेश्वर का साक्षात् कराने के लिए सदा उद्यत रहता है, कटिबद्ध रहता है।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ (यजु०, ११. ४)

मेधाविनो ज्ञानिन एव विप्राः
दक्षस्य सर्वासु कलासु तस्य ।
प्रभोः समाराधनदत्तचित्ता
स्तस्मिन् स्वकीयां सुमतिं नयन्ति ॥ ४५॥

बुद्धिमान् दानी तथा परम ज्ञानी लोग समस्त सद्विद्याओं तथा कलाओं में उत्कृष्ट और महान् जगत्पिता ईश्वर को उपासना में दत्तचित्त होकर अपने मन और बुद्धियों तथा अन्यान्य प्रवृत्तियों को उसी को ओर ले जाते हैं अर्थात् प्रभु से युक्त करते हैं।

स ज्ञानविज्ञानविदां वरेण्यः
मनःप्रवृत्तेरपि तत्त्वविज्ञः ।
एको हि विश्वं प्रकरोति नान्यः
स्तुत्यस्ततः पण्डितमण्डलीषु ॥ ४६॥

ज्ञान-विज्ञान को जानने वाला प्रभु, मन की समस्त प्रवृत्तियों के तत्त्व को भी अच्छी तरह जानता है। वह अकेला समस्त विश्व की रचना करता है। इस कार्य को कोई और नहीं कर सकता उसकी महिमा अनुपम है। पण्डितगण भी उसकी महिमा का गान करते हैं।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥
(यजु०, ११. ५)

तत्त्वोपदेशामृतपानमुग्धं
प्रेमाश्रुपूर्णं शतशो नमन्तम् ।
गुरुं च शिष्यं खलु दम्पती वा
करोमि युक्तं परमेश्वरेण ॥ ४७॥

ब्रह्मज्ञानी जिज्ञासु को कह रहा है—भगवद् उपदेशामृत पीने के लिए मुग्ध, हर्ष तथा प्रेमाश्रु पूर्ण सैंकड़ों बार नमन करते हुए गुरु और शिष्य को, पति पत्नी को, प्रत्येक सच्चे उपासक स्त्री पुरुष को मैं उस आदि परब्रह्म से मिलाता हूँ, उपासना तथा पूजा में लगाता हूँ।

विद्यावतो मे श्रवणार्ह एष
सन्मार्गदर्शी सुलभोपदेशः ।
व्याप्तो भवेदाशु दिगन्तरेषु
सर्वत्र वायोरिव सम्प्रविष्टः ॥ ४८॥

परा विद्या से युक्त मुझ ब्रह्मज्ञानी का यह उपदेश सुनने योग्य है। यह उपदेश बड़े सीधे-सादे ढंग से, आसानी से सन्मार्ग को दिखाता है। मेरा यह सत्योपदेश अति शीघ्र समस्त दिशाओं विदिशाओं में वायु की तरह व्याप्त हो जाए अर्थात् सर्वत्र फैल जाए जिसकी अमृतमयी सुगन्ध से सब रसविभोर हो जाएं।

शृण्वन्तु सर्वे परमात्मपुत्राः
स्थानेषु दिव्येषु विराजमानाः ।
चतुष्पथप्रख्यसुगं समन्तान्-
नितान्तकल्याणमयोपदेशम् ॥ ४९ ॥

दिव्य स्थानों में परम धाम में विराजमान उस अमृत, परम-पिता के पुत्रो! सुनो सब रास्तों से मिलाने वाले रमणीय चौराहे की तरह कल्याणकारी मेरे इस सच्चे उपदेश को, यह उपदेश कान में पड़ते ही आनन्द विभोर कर देता है।

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥
(यजु०, १९. ७)

भगाय यज्ञं सवितः सदैव
पतिं च सम्प्रेरय तस्य भयः ।
वेदस्य वाणीं परितो दधानो
दिव्यः स देवः सुमतिं पुनातु ॥ ५० ॥

हे सर्वोत्पादक प्रकाशस्वरूप! जगतपिता परमात्मन्! ऐश्वर्य के लिए यज्ञों को तथा यज्ञ पति को तू सदैव प्रेरित कर, वेद वाणी को धारण करने वाला सदा अपने ज्ञान से तृप्त वह दिव्य देव हमारी बुद्धि को पवित्र करे।

ज्ञानेन पूतेन मतेर्विधाता
सर्वेश्वरः सर्वजनोपकारी ।
वाचस्पतिर्वेदविदां वरेण्यः
करोतु वाचं मधुरां प्रियाञ्च ॥ ५१ ॥

अपने अनूठे तथा पवित्र ज्ञान से सद्बुद्धि का निर्माण करने वाला, सबका स्वामी, प्राणी मात्र का हितैषी हृदय से सबका उपकार करने वाला, वेद-वेत्ताओं से वरणीय, वेद ज्ञान का स्वामी, सर्वप्रिय, परमेश्वर हमारी वाणी को मधुर तथा प्यारी बनाए।

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥ (यजु०, ११. १४)

योगे च तुल्या गुणकर्मतुल्याः
समस्वभावाः पथिकैकलक्ष्याः ।
विघ्नान् निहन्तुं निजरक्षणाय
समाह्वयामो बलवन्तमिन्द्रम् ॥ ५२ ॥

योगक्रिया में समान, गुण कर्म में एक बराबर, एक जैसे स्वभाव वाले तथा एक हो, लक्ष्य को प्राप्ति के लिए एक ही मार्ग का अनुसरण करने वाले, समस्त विघ्नों को दूर करने के लिए और अपनी रक्षा के लिए उस महान् बलशाली परमात्मा को बुलाते हैं।

ज्ञाने समाना गुणकर्मतुल्याः
समानशीलाः प्रतिकर्ममार्गम् ।
समानमार्गा निजकार्यसिद्ध्यै
ततस्तमिन्द्रं वयमाह्वयामः ॥ ५३ ॥

एक समान ज्ञान वाले, गुण कर्म में तुल्य, समान स्वभाव तथा आचार विचार वाले, प्रत्येक कर्म तथा कार्य सिद्धि के लिए समान मार्ग तथा एक ही रास्ते के राहगीर अपनी कार्य सिद्धि के लिए हम उस बलशालियों में बलवान् परमेश्वर को बुलाते हैं।

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥
(यजु०, ११. ८३)

निवेदनं चान्नपतेऽस्मदीयं
श्रुत्वातिशीघ्रं करुणार्णवेश ।
स्वादिष्टमन्नं बलवर्धकञ्च
प्रदेहि नो देव ! विमुक्तहस्तात् ॥ ५४ ॥

हे दया के सागर दयानिधे ! अन्न के स्वामी, हमारी प्रार्थना को सुनकर हमें शीघ्र ही आरोग्यप्रद तथा बलशाली बनाने वाले अन्न का दान कर, हम उस शुद्ध अन्न को खाकर बलशाली बनकर तेरी आज्ञा पालन करें। शुद्ध और पवित्र अन्न ही मनुष्य को बलशाली सच्चरित्र और बुद्धिमान् बना सकता है।

येनान्नदानेन नरास्तथान्ये
समेत्य वृद्धिं पशवो जगत्याम् ।
अहैतुकीं ते करुणां विलोक्य
गायन्ति कीर्ति मनसा मुखेन ॥ ५५ ॥

हे दयालो ! तेरे दिए हुए उस अन्न से प्रत्येक मनुष्य तथा पशु-वृद्धि को पाकर इस संसार में तेरी अहैतुकी दया को देख कर प्रभो ! पशु मन के द्वारा और मनुष्य अपने मुख से तेरा यश गान करते हैं।

स्वास्थप्रदं वा बलवर्धकं वा
भूयिष्ठमन्नं स्वजनाय देहि ।
दातारमन्नस्य सदा पृथिव्या
मन्नेन पूर्णं कुरु नित्यमेव ॥ ५६ ॥

हे अन्न के भण्डार तथा अन्न के स्वामी ! इस संसार में अन्न के दाता को आरोग्यप्रद बलवर्धक सुखदायी तू सदा के लिए बहुत सा भरपूर अन्न प्रदान कर।

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय ।
अथावयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥
(यजु०, १२. १२)

अस्माकमूर्ध्वस्थितमाद्य पाशं
तं मध्यमं पाशमथाधमञ्च ।
सर्वेश्वरस्त्वं वरणीय देव !
संकर्तये तान् करुणाकरस्त्वम् ॥ ५७ ॥

हे सर्वेश्वर ! तू वरणीय दिव्य देव है, अखण्ड प्रकाश का भण्डार है। हमारे उत्तम, मध्यम, अधम अर्थात् ऊपर के और नीचे के एवं बीच के इन तीनों पाशों को हे दयानिधे ! तू शीघ्र काट दे, इन तीनों जालों से मुक्त कर दे। इन से छुटकारा दिलाने में तू ही एकमात्र समर्थ है।

पाशास्त्रयः सन्ति सुतैषणा वा
वित्तैषणा चानुगता नरेषु ।
लोकैषणा सर्वजनप्रिया च
ताभिर्निबद्धाः पुरुषाश्च लोके ॥ ५८ ॥

ये पाश पुरुष के बन्धन के जाल तीन प्रकार के हैं। पुत्रैषणा पुत्र-प्राप्ति की इच्छा, दूसरी वित्तैषणा धन-प्राप्ति की इच्छा, यह एषणा सब लोगों में व्यापक है। तीसरी लोकैषणा गण्य-मान्य सम्पन्न व्यक्ति संसार में अधिक मान पाकर अभिमान में डूब जाते हैं। इन तीनों पाशों से संसार जकड़ा हुआ है, बंधा हुआ है। इन से छुटकारा पाना कठिन है।

पुत्रैषणा भोगविलासकर्त्री
वित्तैषणा पूरयितुं पुनस्ताम् ।
लोकैषणा मानधनस्वरूपा
निघ्नन्ति पाशा पुरुषं सदैमे ॥ ५९ ॥

पुत्र-प्राप्ति की इच्छा भोग-विलास से पैदा होने वाली है—इन से पुरुष विषयों में फँस जाता है। इसे पूर्ण करने के लिए धन प्राप्त करने की इच्छा होती है। मोह में फँस कर उचितानुचित ढंग से धन इकट्ठा करता है। एवं गण्य-मान्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों में संसार में अधिक मान पाने की इच्छा घर कर लेती है। ये पाश सदैव मनुष्य को पीड़ित करते रहते हैं।

सौभाग्यवन्तो विरला हि केचि-
दभीष्टसिद्ध्यै प्रभवन्ति चाग्रे ।
सौभाग्यदं तद्दिनमस्ति लोके
यस्मिन् वयं ते शरणं प्रपन्नाः ॥ ६० ॥

संसार में कुछ विरले ही सौभाग्यशाली पुरुष अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए अग्रसर होते हैं। वह दिन भी बड़ा सौभाग्यशाली होता है। जिस दिन हम तेरी शरण में पड़ जाते हैं। अर्थात् तेरे चरणों में आत्मार्पण कर देते हैं।

अनन्तरं देव ! वयं तवाग्रे
दिव्यप्रकाशाय नताननाः हि ।
तव व्रते बद्धसदाशयाश्च
निरागसः स्याम तवांघ्रिपद्मे ॥ ६१ ॥

हे दिव्यज्योति के भण्डार, अपने प्रकाश से प्रकाशित ज्ञानस्वरूप, परमात्मन्, उसके पश्चात् हम तेरी दिव्यज्योति को प्राप्त करने के लिए तेरे चरणों में सिर झुका कर तेरे व्रतों में तथा व्यवस्था में सच्ची भावना युक्त तेरे चरणों में निष्पाप, निष्कलंक, शुद्धचित्त होकर रहें।

आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाहि अपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ॥ (यजु०, १४. १७)

प्राणांस्तथाऽपानमुदानमेव
व्यानं समानं मम दीनबन्धो !
संरक्ष चैवं ननु विश्वमूर्ते !
यथा भवेयं तव भक्तिमग्नः ॥ ६२ ॥

हे दीनबन्धो ! मेरे प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान इन प्राणों की रक्षा कर इन से मुझे असीम शक्ति प्राप्त हो। हे विश्वमूर्ते ! इनकी निश्चित रूप से ऐसे ढंग से रक्षा कर जिससे मैं तेरी भक्ति में लीन हो जाऊं सिवाय तेरे कुछ न दीखे।

श्रोत्रं तथायुर्नयनं च पाहि
मनो विलोलं मम तृप्तिमेतु ।
वाणी सुरम्या मधुरा प्रिया च
सदानवद्या भवतु प्रगल्भा ॥ ६३ ॥

हे दयानिधे ! मेरे कान तथा आयु और नेत्रों की रक्षा कर। मेरा चञ्चल मन तृप्त हो—अर्थात् प्रसन्न हो एवं मेरी मीठी, सुन्दर, प्यारी, प्रगल्भ और निर्दोष वाणी हो। मेरी सुसंस्कृत मधुर वाणी को सुनकर लोग हर्षोल्लास में झूम जाएं।

आत्मानमेवं मम पाहि विष्णो:
संकल्पजालं च यथास्तु शुद्धम् ।
विकारजन्यः किल कोऽपि भावः
कदापि न स्याद्धृदये मदीये ॥ ६४ ॥

हे विष्णो ! मेरी आत्मा की इस प्रकार रक्षा कर जिससे मन के संकल्प भी शुद्ध हों। मेरे मन में विकृति लाने वाला कोई भाव कभी भी पैदा न हो अर्थात् सदा एकरस रहे।

प्रयच्छ ज्योतिर्भगवन् ! विचित्रं
ज्योतिस्त्वदीयं हृदये मदीये ।
प्रविश्य मोहं परितोऽपहृत्य
प्रज्ञानमार्गं कुरु मे प्रशस्तम् ॥ ६५ ॥

हे भगवन् ! मुझे अपनी दिव्य ज्योति प्रदान कर वह तेरी विचित्र और असीम ज्योति मेरे हृदय में प्रवेश करते ही मेरे समस्त अज्ञान रूपी अन्धकार को, अज्ञान को, मोह जाल को चारों तरफ से काट कर ऐसा विचित्र प्रकाश प्रदान कर जैसे सूर्य घोर अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर संसार को प्रकाश देता है। उसी प्रकार मोह तथा अज्ञान से पैदा हुए हृदयान्धकार को दूर करके प्रकाश मार्ग को ज्ञान मार्ग को प्रशस्त बना जिससे पुनः कभी विषय वासना में न फंसूं।

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ।

(यजु०, १४. २०)

सूर्योऽग्निसोमा वसवोऽथरुद्राः
आदित्यदेवा वरुणस्तथेन्द्रः ।
बृहस्पतिर्यो मरुतस्तथा ये
विश्वे च देवा प्रभवन्ति सर्वे ॥ ६६ ॥

अग्नि देवता है, सूर्य देवता है, वायु देवता है, चन्द्रमा देवता है, पृथिवी आदि आठ वसु देवता हैं, प्राण आदि ग्यारह रुद्र देवता हैं, आदित्य चैत्र आदि बारह मास देवता हैं, ऋत्वक् व विद्वान् देवता हैं, सब अलौकिक गुण कर्म स्वभाव वाले ज्ञानी और दिव्य पदार्थ देवता हैं। वेद वाणी का स्वामी परमात्मा अथवा वेद को जानने वाला विद्वान् देवता है, ईश्वर का आत्मा देवता है, जल अथवा वरण करने योग्य प्रभु या श्रेष्ठ तथा सद्गुणों वाला व्यक्ति व पदार्थ देवता है। ये सब शक्तिशाली तथा उपकारी होने के कारण देवता हैं।

इमे हि देवा उपकार हेतो-
र्यच्छन्ति सर्वं भुवि मानवेभ्यः ।
देवो हि दानाद् भवतीह लोके
तस्मादिमे देवपदाभिधेयाः ॥ ६७ ॥

ये सब देवता संसार का उपकार करते हैं और जीवन की प्रत्येक वस्तु का दान करते हैं। उनसे हम सुख सौभाग्य से सम्पन्न होते हैं। देव होता ही दान करने से है। इसीलिए इन व्यक्तियों अथवा पदार्थों का नाम देवता है।

कृत्यं जनानामिदमेव लोके
ज्ञाने रतानामथ दातृणाञ्च ।
मानेन सर्वे भुवि लब्धलाभा
भवन्ति चाग्रे विदुषां गणेषु ॥ ६८ ॥

इस संसार में निश्चित रूप से मनुष्यों का यह कर्त्तव्य बनता है कि ज्ञानी तथा दानी पुरुषों का सम्मान करें इससे उनको महान् लाभ प्राप्त होता है। संसार में समस्त महापुरुषों में विद्वानों में वे अग्रणी होते हैं।

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ (यजु०, १६. ४१)

कल्याणकर्त्रे सततं शिवाय
सुखस्वरूपाय महेश्वराय ।
मांगल्यदात्रे परमाद्भुताय
नमोस्तु तस्मै हृदयेन नित्यम् ॥ ६९ ॥

कल्याण करने वाले, तथा निरन्तर कल्याण मार्ग का प्रदर्शन कराने वाले, सुखस्वरूप, अति-मंगल करने वाले, उस सर्वशक्ति सम्पन्न, सर्वाधिपति-विचित्र तथा अद्भुत प्रभु को मैं सदा हृदय से नमस्कार करता हूँ, इसका भाव यह है संसार का प्रत्येक व्यक्ति सुख और कल्याण की कामना करता है, ताकि मंगलमय जीवन व्यतीत हो इसीलिए उसी को नमस्कार तथा उसी की प्रार्थना की जाती है।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

(यजु०, १७. २७)

यो नः पिता सुष्ठुतरं जनाना-
मुत्पादको वृद्धिकरः सदैव ।
कर्मानुकूलं फलदः स एव
जानाति वृत्तं भुवि मानवानाम् ॥ ७० ॥

जो हमारा परमपिता परमात्मा सांसारिक मानवों को सम्यक्-तया उत्पन्न करता है, वह मनुष्य के कर्मानुसार फल देने वाला है। वही समस्त मनुष्यों के वृत्त को—आचरण को अच्छी तरह जानता है। उससे कुछ छुपा नहीं, वह सर्वज्ञ है।

यो नः पिता सर्वजनैककर्ता
नामानि तेषामथ धाम जन्म ।
करोति जानाति विधिं विधिज्ञः
कर्मानुकूलं फलदायकश्च ॥ ७१ ॥

वही हमारा पिता परमात्मा संसार के समस्त लोगों का एकमात्र पैदा करने वाला है। समस्त लोगों के नाम स्थान एवं जन्म को अच्छी तरह जानता है। वही विधि विधान के जानने वाला तथा करने वाला है। प्रत्येक व्यक्ति के किए हुए कर्मानुसार फल देने वाला है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि मनुष्य को अपने किए शुभाशुभ कर्म का फल—अवश्य भोगना पड़ता है।

करोति नामानि दिवौकसां यो
यः प्राश्निकस्यापि शरण्य एकः ।
महेशमाश्रित्य तमेव सर्वे
लोकान्तरे वै गतिमाप्नुवन्ति ॥ ७२ ॥

बिना किसी के सहारे वह अकेला सूर्य आदि देवों का नाम करता है। वह अच्छे अच्छे प्रश्न पूछने वालों का शरण्य है अर्थात् उसकी शरण में जाते हैं वहीं उनके प्रश्न हल होते हैं। लोक उसी परम पिता का सहारा लेकर इस और अन्य लोकान्तरों में गति प्राप्त करते हैं। अर्थात् उसी प्रभु के सहारे मनुष्य अपने कर्त्तव्य पथ में अग्रसर होकर उन्नत होते हैं, मान पाते हैं, बढ़ते हैं, ऊपर उठते हैं।

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थासश्चरन्ति ॥
(यजु०, १७. ३१)

यूयं न जानीथ हि तं मनुष्याः !
उत्पादिता येन वयं समस्ताः ।
लोकान्तराणामपि चैष कर्ता
संवर्तमानो हृदये भवत्सु ॥ ७३ ॥

हे मनुष्यो ! तुम उस प्रभु को नहीं जानते, जिसने हम सब को पैदा किया है। वही लोक लोकान्तरों का कर्ता तुम्हारे हृदय में सदा वर्तमान रहता है, किन्तु तुम नहीं जानते।

स नः पिता सर्वजनैककर्ता
नामानि तेषामपि जन्म धाम ।
अन्तस्स्थितो वेत्ति नरस्य वृत्तं
पुरा कृतं कर्म शुभाशुभञ्च ॥ ७४ ॥

वह हमारा पिता संसार के प्रत्येक व्यक्ति की रचना करता है और उनके नाम, जन्म, रहने के स्थान तथा मनुष्य द्वारा किए प्रति आचरण को एवं पूर्वजन्म के किए शुभाशुभ कर्म, हृदय में वर्तमान होने के कारण अच्छी प्रकार भली-भांति जानता है।

अज्ञाननीहारयुता मनुष्या
ऐश्वर्यलिप्ता विषयेषु सक्ता ।
वृथैव वादे परिजल्पमाना
मिथ्या हि शास्त्रं प्रविलोकयन्ति ॥ ७५ ॥

अज्ञानरूपी कोहरे से ढके मनुष्य ऐश्वर्य में डूब कर विषयों में आसक्त, अनावश्यक व्यर्थ बहुत बोलने वाले, सांसारिक लोगों को कपट से फंसाने के लिए शास्त्रों की बार-बार झूठी प्रशंसा करते हैं।

सदा परेशं हृदये निधाय
कुर्यात कर्माणि शुभानि यूयम् ।
हृदि स्थितः पश्यति सोऽप्रमेय
स्तस्मान्न गोप्यं भवतीह किञ्चित् ॥ ७६ ॥

अतः हे मनुष्यो ! उस परम पिता को हृदय में रखकर संसार में शुभ कर्म करो, क्योंकि वह अप्रमेय परम पिता परमात्मा तुम्हारे हृदय में विराजमान है, अतः वह सब कुछ देखता है। उससे तुम कुछ छुपा नहीं सकते।

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥
(यजु०, १७. ६७)

समाहितो भूमितलाद् व्रजेऽहं
योगक्रियाभिः किल चान्तरिक्षे ।
ततो दिवं प्राप्य पुनश्च नाकं
सम्प्राप्नुयां ज्योतिरनूनमित्थम् ॥ ७७ ॥

हे सांसारिक मनुष्यो ! तुम उस असीम शक्तिसम्पन्न परमपिता को नहीं जानते जिसने इस संसार तथा अन्य लोक-लोकान्तरों वा पदार्थों की रचना की है। मैं समाधिस्थ होकर इस पृथिवी से अपने योग आदि क्रियाओं द्वारा अन्तरिक्ष में पहुँचा अन्तरिक्ष से उठ कर मैं द्युलोक पर चढ़ गया फिर द्युलोक से भी उठकर उस सनातन परब्रह्म प्रभु को पाकर मैं स्वयं आनन्द में डूब गया अर्थात् प्रकाश को दिव्य-ज्योति को प्राप्त कर गया।

प्राणान्तकोशादथपार्थिवाच्च
हृद्युत्थाय चान्तःकरणे समेत्य ।
मनोमयं कोशमितो विहाय
द्युलोकमेम्यत्र विशुद्धचित्तः ॥ ७८ ॥

शुद्धाचरण तथा योग द्वारा संयमी बन कर, अन्नमय कोश और प्राणमय कोश रूप इस पार्थिव शरीर से मनोमय कोश को पाकर, फिर अन्तरिक्ष मनोमय कोश को छोड़कर, यहां से विशुद्ध चित्त में विज्ञानमय कोश को प्राप्त करूँ, तत् पश्चात् आनन्दमय कोश में प्रवेश पाकर, आनन्द एवं अद्वितीय प्रकाश में लीन होकर, स्वयं आनन्द स्वरूप बन जाऊँ।

पुनर्द्युलोकाद् मनसा प्रसन्न
आनन्दरूपात्मकलोकमेत्य ।
प्राप्य प्रियं तं नितरामगम्यं
ज्योतिर्मयं स्वं प्रकरोमि सद्यः ॥ ७९ ॥

फिर प्रसन्नचित्त मैं द्युलोक से आनन्द स्वरूप ज्योतिर्मय दिव्य रूप को पाकर, उस अप्राप्य प्राणप्रिय प्रभु को प्राप्त करके, अपने आप को स्वं ज्योति स्वरूप बनाकर, उस विराट् स्वरूप प्रभु के आनन्द प्रवाह में प्रवाहित होकर रहूँ।

योगैः यमैरन्यविधैः परेशं
सम्प्राप्य यत्नेन यथा कथञ्चित् ।
फुल्लाननास्ते सततं प्रतुष्टा
आनन्दमत्रानुभवन्ति सन्तः ॥ ८० ॥

योग क्रिया से अथवा यम नियमों या और अनेकानेक ढंगों से जैसे तैसे उस प्रभु को पाकर विकसित खिले मुख वाले विद्वान् महापुरुष, सज्जन सदा आनन्द अनुभव करते हैं।

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसि ।
यज्ञं मे विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥
(यजु०, १७. ६८)

ये सन्ति विप्रा नरपुंगवास्ते
यज्ञस्वरूपं प्रभुमाप्नुवन्ति ।
नेच्छन्ति वै पार्थिवभोगमत्र
तेजः - प्रकाशद्युतिमालभन्ते ॥ ८१ ॥

जो सर्वोत्तम विद्वान् तथा श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, वे आनन्दप्रद यज्ञस्वरूप प्रभु को प्राप्त करके तदनन्तर वे पार्थिव भोगैश्वर्यों की इच्छा नहीं करते। इन भोगों को वे मन से त्याग देते हैं। तब द्युतिमय तेज प्रकाश युक्त परम पदवी को पा जाते हैं।

विपश्चितो ज्ञानरता प्रशान्ताः
समन्ततो ज्ञाननिधिं वहन्तम् ।
तेजोमयं तं हृदये निवेश्य
भवन्ति मोक्षैकपथाग्रगण्याः ॥ ८२ ॥

प्रभु ज्ञान में मस्त. शान्त-चित्त विद्वान्, चारों तरफ ज्ञान को बहाने वाले, ज्ञान के समुद्र, तेजःस्वरूप प्रभु को हृदय में धारण करके मोक्ष पथ के सबसे अग्रणी होते हैं।

सर्वोत्तमा ज्ञानिन एव पूर्वं
शृण्वन्ति पश्चात् पुनराचरन्ति ।
निरस्य तृष्णां भवमोहिनीं च
तदुत्तमं मार्गमितो लभन्ते ॥ ८३ ॥

सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी तथा विद्वान् लोग पहले सुनते हैं, फिर उस पर आचरण करते हैं। अपने आपको उस ढांचे में क्रियात्मक रूप देते हैं। संसार को मोहित करने वाली तृष्णा का मन से त्याग करके चारों ओर से उस उत्तम मार्ग को अर्थात् मुक्ति मार्ग को प्राप्त कर लेते हैं।

विद्वांस एवात्र सदा महान्तः
श्रद्धां तथास्थां हृदये निधाय ।
सनातनं तं च निरीक्ष्यमाणाः
भवन्ति भव्या विरला हि लोके ॥ ८४ ॥

महान् पुरुष तथा बड़े-बड़े विद्वान् ही यहां पर श्रद्धा और आस्था को मन में धारण करके उस सनातन प्रभु के हृदय में दर्शन करते हुए विरले ही सब से निराले व्यक्ति होते हैं।

पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयोदिव्यन्तरिक्षे पयोधाः ।
पयःस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥ (यजु०, १८-३६)

अग्ने! पयोधाः दिवि चान्तरिक्षे
पयः पृथिव्यामथ चोषधीषु ।
पयोयुता सन्तु दिशो हि मह्यं
पयःप्रवाहं मयि देह्यजस्रम् ॥ ८५ ॥

हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! तू द्युलोक में, अन्तरिक्ष में, पृथ्वी में, ओषधियों में रस भर दे, रस का संचार कर दे, प्रेयरस का प्रवाह बहा दे और मेरे लिए समस्त दिशाएं प्रेमरस से भरपूर हों अर्थात् मैं तेरे प्रेम-रस के प्रवाह में प्रवाहित हो जाऊँ।

पोषत्वमिच्छन्ति जना पृथिव्या
नीरोगतामोषधयो नयन्तु ।
इच्छन्ति सूर्याच्च दिवो बलं ते
समन्ततः स्याच्च रसानुभूतिः ॥ ८६ ॥

सांसारिक प्राणी पृथ्वी से पुष्टि चाहते हैं। ओषधियों से आरोग्यता प्राप्त करना चाहते हैं। द्यौ से और सूर्य से शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। अपने सब ओर के व्यक्तियों से अथवा प्राणियों से प्यार और रसानुभूति, सहयोग आदि प्राप्त करना चाहते हैं।

उपर्युक्त शक्ति तथा वस्तुएं देने वाली पृथ्वी आदि का हमें हृदय से सम्मान करना चाहिए। इसी से हम कृतज्ञ तथा सन् मानव कहला सकते हैं।

कर्तव्यमेतत् परमं जनानां
पयःप्रदां मातरमर्चयन्तु ।
नेत्थं भवेच्चेद् वयमत्र दण्ड्यास्
तस्मात् सदा तां प्रणमन्तु सर्वे ॥ ८७ ॥

संसार के समस्त मानवों का यह कर्तव्य बनता है कि रस देने वाली, आनन्द तथा प्रेम रस से तृप्त करने वाली पृथ्वी मां का हृदय से सम्मान करें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम कृतघ्न तथा दण्ड के अधिकारी होंगे। अतः सब अपनी कृतज्ञता प्रकट कर उसको नम्रतापूर्वक प्रणाम करें।

यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः ।
ताभिर्नो अद्य सर्वाभिरुचो जनाय नस्कृधि ॥
(यजु०, १८. ४६)

अग्ने! रुचस्ते रविरश्मिभिश्च
तन्वन्ति सर्वत्र सदा प्रकाशम् ।
ताभिः स्वतेजोमयदीप्तिभिश्च
प्रकाशमस्मासु विधेहि देव ॥ ८८ ॥

हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! तेरी दीप्तियां, प्रीतियां, कान्तियां जो सूर्य में वर्तमान प्रकाश को रश्मियों से सब जगह फैलाती हैं।

हे दिव्यदेव ! उन्हीं अपनी तेजसम्पन्न दीप्तियों, प्रीतियों से और कान्तियों से हम में प्रकाश कर दे फिर हम अज्ञानान्धकार में कभी न डूबें ।

प्रभो ! प्रकाशं परितो वहन्ति
देदीप्यमाना रविरश्मयो हि ।
व्यपोहितुं मानसमन्धकारं
सन्त्यत्र शक्ता नहि केऽपि चान्ये ॥ ८९ ॥

हे प्रकाशस्वरूप प्रभो ! चारों ओर से तेरे प्रकाश को चमकाती हुई सूर्य की रश्मियाँ हमारे मन के घोर अन्धकार को, अज्ञान को नष्ट करने के लिए यहां समर्थ हैं । इनके अतिरिक्त और कोई नहीं, अतः प्रभो ! अपनी रश्मियों से हमें प्रकाशित कर दो । हम में अध्यात्मज्ञान भर दो ।

सुखप्रदास्ते रुचयो महत्यो
विस्फोटयन्त्यः प्रबलान्धकारम् ।
मनोविकारं परिहृत्य सद्य
आयान्तु मे चेतसि ताः समग्राः ॥ ९० ॥

हे सर्वाग्रणी प्रभो ! सुख शान्ति देने वाली तेरी दिव्य कान्तियाँ, प्रीतियाँ हमारे अज्ञान तथा मोहजन्य प्रबल अन्धकार को चीर कर, फाड़ कर, दूर कर, मन को विकृत करने वाले विकार को शीघ्र दूर करके वे सारी मेरे हृदय में प्रवेश करें, मेरे हृदय को उज्ज्वल करें ।

अर्थात् हे भगवन् ! जैसे सूर्य की किरणें संसार के अन्धकार को दूर करके प्रकाश देती हैं उसी प्रकार आपकी प्रकाशस्वरूप प्रभा दिव्यकान्ति सांसारिक अज्ञान, अन्धकार सदा के लिए दूर कर दें, फिर मैं उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित हो, दूसरों को प्रकाशित करूं ।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥
(यजु०, १८. ४८)

बृहस्पते ! विप्रजनेषु दीप्तिर्
ज्ञानप्रकाशाय विशेत् त्वदीया ।
संरक्षणार्थं नितरां जनानां
बलाय राजन्यकुलेषु भूयात् ॥ ९१ ॥

हे वेदज्ञान के स्वामी परमपिता परमात्मन् ! तू ब्राह्मणों में अपनी दीप्ति से दीप्ति-प्रीति धारण कर उन तेरी दिव्य दीप्तियों से ज्ञान का प्रकाश हो, उससे वे संसार को ज्ञान का दीपक जगा कर जागृत करें, जागरूक बनाएं और वही तेरी दीप्ति निरन्तर लोगों की रक्षा के लिए क्षत्रियों में बल प्रदान करे ।

दानाय वैश्येषु भवेच्च दीप्ति-
र्धनार्जनं स्याच्च तदर्थमेव ।
वर्णत्रयाणां परिसेवनाय
शूद्रेषु दीप्तिस्तव चैवमेव ॥ ९२ ॥

वैश्यों में तेरी दीप्ति लोगों को देने के लिए धन संग्रह करे । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों की सेवा के लिए शूद्रों में तेरी दीप्ति सदा बनी रहे अर्थात् ये चारों वर्ण अपने-अपने कर्तव्य में जागृत रहें ।

तत्त्वायामि ब्रह्मणा वन्दमानास्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः ॥
(यजु०, २८. ४९)

ज्ञानेन मन्त्रैश्च नमन् महेश !
श्रेयस्करं सौख्यमहं विशुद्धम् ।
याचे भवन्तं विनयेन देव !
तत् त्वं प्रदेहि प्रणयैकमूर्ते ! ॥ ९३ ॥

हे सर्वान्तर्यामी परमात्मन् ! मैं ज्ञानपूर्वक तथा वेद मन्त्रों द्वारा स्तुति करता हुआ तुझ से कल्याणकारी उस महान् सुख की याचना करता हूं, अतः हे प्रणयस्वरूप प्रभो ! आप वह परम सुख प्रदान करके अनुगृहीत करें ।

यज्ञशीलो यजमाननम्रो
शुद्धैर्हविर्भिर्नितरां तदेव ।
स्थिरं सुखं चाद्भुतमव्ययं हि
संयाचते प्रेमपरैकचित्तः ॥ ९४ ॥

यज्ञशील नतानन यजमान यज्ञ में दी हुई हवियों द्वारा उसी अविनाशी तथा विचित्र स्थायी सुख को प्रेमाश्रु पूर्ण याचना करता है ।

विज्ञैरनेकैः स्तुतिभिः प्रशस्य !
त्वं मेऽपमानं न कुरुष्व भद्र ! ।
तत्त्वस्य बोधो नरजन्मनीह
सद्यो भवेद् मे वरणीय देव ! ॥ ९५ ॥

अनेक स्तुतियों, अनेकानेक विद्वानों से प्रशंसनीय प्रभो ! तू मेरी प्रार्थना को अनसुनी करके मेरा अपमान न करना, हे वरणीय कल्याणप्रद भगवन् ! मुझे इस मनुष्य जन्म में ही उस पर तत्त्व का ज्ञान आप से ही प्राप्त हो सकता है।

संप्रार्थयेऽहं बहुशो भवन्तं
व्यर्थं न गच्छेद् मम चायुरेतत् ।
पुनः पुनस्त्वामिदमेव याचे
दयस्व तस्मान् मयि दीनबन्धो ! ॥ ९६ ॥

भगवन् ! मैं आप से सैंकड़ों बार पुनः पुनः प्रार्थना करता हूं, मेरी आयु व्यर्थ न चली जाए अतः पुनः याचना करता हूँ। हे दीनबन्धो ! मुझ पर दया करो जिस से मुझे परम सुख मिल जाए।

यथा वयं मानुषजन्मनीह
तत्त्वं हि वेत्तुं भवतो समर्थाः ।
नान्येष योनीषु कदापि तच्च
ततो वयं त्वां बहुशो वदामः ॥ ९७ ॥

हे सर्वशक्तिमन् प्रभो ! जिस प्रकार हम मनुष्य जन्म में आपके परतत्त्व को जान सकते हैं। उस तरह किसी मनुष्येतर शरीर में नहीं जान सकते इसीलिए हम बार-बार प्रार्थना कर रहे हैं।

यज्ञादिकृत्यैरथ वेदरीत्या
त्वां वन्दमाना वयमत्र लोके ।
सम्प्राप्नुयामोत्तमसौख्यजात-
मितीह यत्नं सततं प्रकुर्मः ॥ ९८ ॥

हे भगवन् ! यज्ञादि शुभ कृत्यों से अथवा वेदरीति से हम तुझे नमस्कार करके संसार में उस महान् उत्तम सुख की प्राप्ति के लिए निरन्तर लगातार प्रयत्न कर रहे हैं। आशा है आप हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर अनुगृहीत करोगे।

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥
(यजु०, १८, ६६)

स्वजन्मतश्चाहमथाग्निरस्मि
तथास्मि लोके ननु जातवेदाः ।
चक्षुर्घृतं मे ह्यमृतं मुखं च
लोकत्रयाणामहमस्मि धाता ॥ ९९ ॥

मैं अपने जन्म से अग्नि हूं, तथा जातवेदा हूं, मेरे नेत्रों में घृत है, तेज है, पवित्रता तथा स्नेह का स्रोत है, मेरा मुख अमृत है अर्थात् मेरे मुख में अमृत रस है। मैं अपने शरीर के तीनों लोकों (पृथिवी, द्यौ, अन्तरिक्ष) का निर्माण करने वाला हूं।

सर्वोदयं कर्तुमहं जनानां
लोकेऽग्निरूपो भविता सदा हि ।
जातोऽस्मि वेदादिति जातवेदा
नामानुरूपं मम कर्म सर्वम् ॥ १०० ॥

संसार के लोगों का उत्थान करने के लिए, ऊपर उठाने के लिए, उन्नत करने के लिए, मैं सदा अग्निरूप हूं, वेदों के प्रसार तथा उत्पत्ति के कारण इस भूमण्डल पर जातवेदा हूं। मेरा प्रत्येक कार्य नामानुसार है।

धरान्तरिक्षे च दिवं नियम्य
संधारको वा रचिता हि तेषाम् ।
ज्योतिर्मयोऽहं हविरस्मि नाम्ना
मत्तो जनास्तुष्टिमवाप्नुवन्ति ॥ १०१ ॥

द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष इन तीनों को वश में करके इनके धारण करने से अथवा रचना करने से मैं ज्योतिर्मय, दीप्तिमय, प्रकाश-स्वरूप, मैं नाम से हवि बन गया। इसी कारण मुझ से तुष्टि को प्राप्त करते हैं।

यस्मिन् दिनेऽहं हविराकृतिं च
प्राप्याग्निरूपाय तदर्पये स्वम् ।
तृप्ता भविष्यन्ति जना स्वतो हि
तस्मिन् दिने मां परितः प्रसन्नाः ॥ १०२ ॥

जिस दिन मैं हविरूप बन कर अपने आपको अग्निरूप प्रभु के अर्पण कर दूंगा। उस दिन मेरे चारों ओर के लोग सहज ही स्वयं तृप्त हो जाएंगे।

गन्धं तथारोग्यमितो हि लब्ध्वा
श्रद्धान्विताः सर्वजनाः प्रफुल्लाः ।
आनन्दसन्दोहनिमज्जमाना
नृत्यन्ति मोदेन विचित्रचित्ताः ॥ १०३ ॥

यहां से दिव्य गन्ध और स्वास्थ को पाकर श्रद्धायुक्त प्रसन्न मुख सब लोग आनन्द के समुद्र में डुबकी लगा कर तथा अपार हर्ष में विभोर होकर नाचने लगते हैं।

एवं जनानां मम सन्निकाशाद्
वाण्या शरीरेण यथापि जातम् ।
पापापराधं मनसा कृतं वा
तूर्णं ततो नंक्ष्यति सर्वमेतत् ॥ १०४ ॥

इस प्रकार लोगों का, मेरे द्वारा वाणी, शरीर, अथवा मन से किया पाप अथवा अपराध सबका सब, शीघ्र ही नष्ट हो जाएगा।

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुधी गिरः ।
रक्षा तोकमुत त्मना ॥ (यजु०, १८-७७)

बलाधिपं सर्वजनेषु शक्तं
सदा वयं तं हि यविष्ठमेव ।
दानप्रदानामथ रक्षणार्थं
सम्प्रार्थनां चारुतरं प्रकुर्मः ॥ १०५ ॥

हम सदा बल के अधिपति, सबसे शक्तिशाली युवतम सदा युवा अवस्था में रहने वाले प्रभु को दानी पुरुषों की रक्षा के लिए नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हैं।

हे हे यविष्ठ प्रणयानुशील !
अन्नस्य दातॄनथ वस्त्रदातॄन् ।
परोपकारार्थमजस्रमेव
प्रवृत्तचित्तान् स्वबलेन रक्ष ॥ १०६ ॥

हे युवतम, प्रमाचरण स्वभाव वाले, प्रेमाधार ! अन्न धन वस्त्र आदि के दानी तथा जिन महापुरुषों ने अपने मन को निरन्तर परोपकार में लगा रखा है। उनको अपने अलौकिक बल से सदा रक्षा कर।

गिरस्तु तेषां प्रणयानुपूताः
शृणुष्वदेव ! प्रथमं जगत्याम् ।
त्वत्तो बलं प्राप्य वदन्ति चैमे
त्वत्तो वरेण्यो नहि कश्चिदन्यः ॥ १०७ ॥

इन दानी महानुभावों की पवित्र वाणियों को, प्रार्थनाओं को संसार में सबसे पहले सुनो, आप से बल प्राप्त करके ही यह कह रहे हैं। भगवन् ! आप से बढ़ कर और कोई वरेण्य नहीं अर्थात् आप ही सर्वश्रेष्ठ तथा वरणीय हैं।

इमे च सन्त्यत्र जना स्वकीया
मेवं हि मत्वा हृदये स्वकीये ।
एषां सुतानामथ नप्तॄणां च
कुरुष्व रक्षां भगवन् ! समन्तात् ॥ १०८ ॥

ये सब लोग आत्मीय जन हैं, अपने हृदय में यह मान कर भगवन् ! इनके पुत्र-पौत्रों-दौहित्रों की भी इनके साथ चारों ओर से रक्षा करो।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेहि ओजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ (यजु०, १९. ९)

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि सोम !
त्वं चासि वीर्यं मयि धेहि वीर्यम् ।
बलान्वितो मे बलमत्र देहि
ओजोऽसि नित्यं मयि धेहि चौजः ॥ १०९ ॥

हे सोम ! शान्ति आदि के भण्डार भगवन् ! तू तेज रूप है मुझ में भरपूर तेज भर दे, तू पराक्रमी शक्तिशाली है, मुझ में भी अनन्त असीम पराक्रम भर दे इतना पराक्रम हो कभी साहस न छोड़ूं, तू बल का स्वामी है अर्थात् बलवत्तम है, मुझे भी बल प्रदान कर दो जिससे कभी किसी से न डरूं, न ही दबूं, प्रत्युत दूसरा देखकर स्वयं दब जाए। तू महान् ओजस्वी है, अर्थात् ओज रूप है, मुझ में भी अपना विशुद्ध ओज भर दे ताकि मेरी ओर कोई कुदृष्टि न कर सके।

मन्युः सदा त्वं मयि धेहि मन्युं
सहोऽस्यजस्रं मयि तत् प्रधेहि ।
एतत्तु सर्वं भवतः सकाशं
याचे सदाहं भगवन् विनम्रः ॥ ११० ॥

तू मन्यु स्वरूप है, क्रोध रूप है, अन्याय को निवारण करने के लिए, अत्याचार को दमन करने के लिए, धर्म की तथा सज्जनों की रक्षा करने के लिए, अतः मुझे भी वह मन्यु प्रदान कर अर्थात् मेरी नस-नस में तेरा मन्यु समा जाए जिसमें कोई अत्याचार, अन्याय न सह सकूं तू सहनशील है मुझे भी सहिष्णु बना—उससे धर्म के लिए तथा आपकी मर्यादाओं की रक्षा करने के लिए आने वाली आपदाओं को सहज ही सहन कर सकूं। हे भगवन् ! उपर्युक्त समस्त शक्तियों की प्राप्ति के लिए सविनय याचना करता हूँ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥
(यजु०, १९. ३०)

व्रतैरहिंसादिभिरुच्चकृत्यै-
र्दीक्षामवाप्नोति नरो विशुद्धः ।
स दीक्षयाप्नोति सुदक्षिणाञ्च
श्रद्धां तथा दक्षिणया समेति ॥ १११ ॥

मनुष्य अपने आपको उन्नत बनाने के लिए जीवन में व्रत लेता है—अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्यादि का नियमपूर्वक पालन कर उच्च कृत्यों द्वारा विशुद्ध चित्त वह दीक्षा को विशेष कार्य करने की योग्यता प्राप्त करता है। अपने संकल्प को पूरा करने का

लक्ष्य विशेष का अधिकारी बन कर उससे दक्षिणा को प्राप्त करता है। मान-सम्मान, प्रतिष्ठा व धन के द्वारा बड़े सम्मान की रक्षा के लिए श्रद्धा को प्राप्त करता है। सत्य को अपना कर श्रद्धालु बन जाता है।

सत्यात्मकं तं विभुमत्र लोके
श्रद्धान्वितो धीरनरो विचिन्त्य ।
स्वान्तःस्थितेनात्मबलेन सत्यं
प्राप्नोति तूर्णं मनसा प्रशान्तः ॥ ११२ ॥

श्रद्धालु धीर पुरुष—शान्त चित्त, उस सर्वव्यापी सत्य स्वरूप प्रभु को हृदयस्थ आत्म बल से चिन्तन कर श्रद्धा से प्राप्त कर लेता है।

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥
(यजु०, १९. ३९)

पुनन्तु मां देवगणाः समस्ताः
पुनन्तु ते ज्ञानधनेन माञ्च ।
मया कृतं कर्म सदा पुनन्तु
कुर्वन्तु बुद्धिं मनसा पवित्रम् ॥ ११३ ॥

वे समस्त देवगण मुझे पवित्र करें, वे अपने ज्ञान रूपी धन से मुझे पवित्र करें। मेरे किए कर्म को पवित्र बनाएं। मेरी बुद्धि सात्विकी बना कर पवित्र करें।

खं वायुरग्निश्च जलं च पृथ्वी
सर्वाणि भूतानि पुनन्तु माञ्च ।
स जातवेदाः परमो दयालुः
पुनातु नित्यं करुणार्द्रचित्तः ॥ ११४ ॥

संसार के सब प्राणी तथा पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश ये पंच भूत और दीनोद्धारक, परम दयालु, वेदोत्पादक, सर्वव्यापक परमेश्वर भी सब दया से पसीज कर मुझे पवित्र करें।

दिव्या हि देवाः प्रभवन्ति लोके
शान्तस्वभावा जनताहिताय ।
तस्मादहं तान् विनयान्वितोऽत्र
सम्प्रार्थये पावयितुं स्वमत्र ॥ ११५ ॥

देवगण दिव्य होते हैं, अतः संसार में वे सब कुछ कर सकते हैं। जनता के हित के लिए वे सदा शान्त स्वभाव होते हैं। इस लिए मैं उनको नम्रतापूर्वक अपने आपको पवित्र करने के लिए बार-बार प्रार्थना करता हूं। भाव यह है कि वे निर्दोष होने से तथा विनम्र और शान्त होने के कारण मुझे कृपा दृष्टि से देखेंगे।

पवित्रेण पुनोहि मा शुक्रेण देव दीद्यत् ।
अग्ने क्रत्वा क्रतूँरनु ॥ (यजु०, १९. ४०)

शुक्रेण पूतेन पुनीहि देव !
समुज्ज्वलस्त्वं कुरु मां पवित्रम् ।
प्रज्ञाबलेनोत्तमकर्मणा वा
पुनीहि चाग्ने ! क्रतुना क्रतुं मे ॥ ११६ ॥

हे दिव्यगुण सम्पन्न सत्यप्रिय न्यायकारी भगवन् ! तू अपने अनुपम ज्ञान से उज्ज्वल है, उसी अपने दिव्य उज्ज्वल ज्ञान से—दिव्य ज्योति से मुझे पवित्र कर। हे सर्वाग्रणी प्रभो ! तू अपनी अनुपम प्रज्ञा तथा कर्म के अनुकूल मेरी बुद्धि और कर्म को पवित्र कर। भाव यह है कि तेरे ऐसा करने से निर्दोष निष्कपट जीवन व्यतीत होगा।

प्रज्ञानुसारं निजकर्म कृत्वा
क्रियान्वयेनैव ददाति शिक्षाम् ।
अग्नेः कृपायाः परिणाम एष
तथा चरन्त्यत्र तपस्विनोऽपि ॥ ११७ ॥

वह सच्चा प्रभु अपनी अनुपम-प्रज्ञानुसार कर्म करके वास्तविक कार्य रूप देकर शिक्षा देता है। उसी अग्रणी प्रभु की कृपा का यह परिणाम है, कि तपस्वी तथा महान् पुरुष उसी का यहाँ अनुकरण करते हैं।

स्तुत्यस्य चाग्नेः प्रविलोक्य कर्म
प्रज्ञानुकूलं प्रविचिन्त्य चित्ते ।
उपासकोऽप्यत्र तथैव कर्तुं
प्रवर्तते धीरमना मनीषी ॥ ११८ ॥

प्रकाश्यमान, प्रशंसनीय, सर्वाग्रणी प्रभु के कर्म को अपनी व्यवसायात्मिका बुद्धि से मन में अच्छी तरह चिन्तन कर तथा देख कर धीर मनीषी उपासक के कार्य भी उसी प्रकार होने लग जाते हैं, और वह उसी में प्रवृत्त हो जाता है।

आत्मानमित्यत्र तथा विधातुं
समाहितो यो यततेऽन्वहञ्च ।
तथ्यानुसारं विहितप्रयत्नो
गृह्णाति मार्गं निजनायकस्य ॥ ११९ ॥

उपासक अपने आपको ठीक वैसा बनाने के लिए अनन्य चित्त होकर सदा यत्न करता है। उसके अनुसार प्रयत्नशील वह अपने निपुण सम्पन्न नायक का मार्ग ग्रहण करता है। अर्थात् उसके बताए हुए रास्ते पर चलता है।

उपासकं वस्तुत एव चाग्निः
स्वाचाररीत्या हि ददाति शिक्षाम् ।
प्रज्ञानुकूलं समवेक्ष्य सोऽपि
सत्कर्मदक्षो भवतीह सद्यः ॥ १२० ॥

वह अग्रणी प्रभु वास्तव में अपने उपासक को साधक को अपने आचरण तथा सद्व्यवहार से शिक्षा देता है। वह भी बुद्धिपूर्वक उसके आचार तथा व्यवहार देखकर सत्कर्म करने में अत्यन्त चतुर हो जाता है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से भी यही कहा है—हे अर्जुन ! जिस काम को श्रेष्ठ पुरुष करते हैं। शेष लोग भी उसी का अनुसरण करते हैं।

कृपाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च ।
मां पुनीहि विश्वतः ॥ (यजु०, १९. ४३)

वेदेन यज्ञेन सुकर्मणा वा
समन्ततो मां सवितः पुनीहि ।
ज्ञानैकयज्ञेन सुखप्रदोऽसि
तस्मादहं त्वां विनयेन याचे ॥ १२१ ॥

हे प्रकाशस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप परमपिता परमात्मन् ! तू अपने वेद ज्ञान के द्वारा अथवा यज्ञमय शुभ कर्म से मुझे शरीर-वाणी-कर्म से पवित्र कर, तू वेद ज्ञान तथा यज्ञ से सुख देने वाला है, इसलिए मैं उसकी प्राप्ति के लिए पुनः पुनः नम्रतापूर्वक तुझ से याचना कर रहा हूं। भाव यह है—भगवन् ! यज्ञरूपी शुभ कर्म से अथवा देदीप्यमान वेद ज्ञान द्वारा मुझे पवित्र करके अनुगृहीत कर।

अवाप्य दीप्तिं हि ततश्च ताभ्यां
प्रकाश्यमानोऽहमिहैव लोके ।
तस्यानुरूपं व्यवहारभङ्गी-
कुर्वन् तथा चात्र सुखी भवेयम् ॥ १२२ ॥

भगवन् ! आपके उन दोनों, वेद के पवित्र सर्वोत्तम ज्ञान से और यज्ञ से दिव्य दीप्ति को पाकर, इसी संसार में ज्ञान और दीप्ति से प्रकाशित होकर, उसके अनुसार अर्थात् प्रभु आचरण अनुसार क्रियात्मक व्यवहार को स्वीकार करके संसार में उस परम सुख का भोक्ता बनूं।

अज्ञासिषुर्ये श्रुतिवेद तत्त्वं
त एव यज्ञादिशुभान्यजस्रम् ।
कुर्वन्ति कार्याणि मनोहराणि
तेभ्यो हि ते श्रेष्ठतमा भवन्ति ॥ १२३ ॥

जिन महापुरुषों ने श्रुतियों तथा वेद के परम तत्त्व को जान लिया है। वे लोग ही यज्ञादि कल्याणकारी शुभ और सुन्दर कार्यों को सदा करते हैं। इस प्रकार अपने पवित्र ज्ञान से तथा प्रभुनिर्दिष्ट आहार व्यवहार से पवित्र होकर ऐहिक और पारमार्थिक सुख-आनन्द के भागी बनकर, उन्हीं के द्वारा वे संसार में महान् और श्रेष्ठतम बन जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य को उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए यही वेद का आदेश है। भाव यह है उक्त आचार-व्यवहार से मनुष्य संसार में महापुरुषों में समझा जाता है और लोग ईश्वर की तरह उसका सम्मान करते हैं।

यदि दिवा यदि नक्तमेनांसि चकृमा वयम् ।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः ॥
(यजु०, ३०. १५)

दिनेऽथ रात्रौ वयमन्यकाले
यच्चापि पापं नितरां हि कुर्मः ।
हृदि प्रविष्टः परमात्मदेवस्
तस्माद्धि रक्षेद् भृशमत्र चास्मान् ॥ १२४ ॥

दिन में अथवा रात में या किसी और समय निरन्तर हम जो पाप करें, उन सबसे वह अन्तर्यामी परमात्मा हमारी रक्षा करे, अर्थात् समस्त दुर्गुण तथा दुर्व्यसनों से हमें सदा के लिए मुक्त करे।

स्वदुर्गुणं दुर्व्यसनं विहातुं
वायुस्वरूपं प्रभुमत्र नित्यम् ।
आराधयामो मनसा नितान्तं
हे देव ! दूरीकुरु तत् समस्तम् ॥ १२५ ॥

हम अपने दुर्गुण और दुर्व्यसनों को जड़ मूल से नष्ट करने के लिए सर्वव्यापी वायु के समान उस प्रभु की सदा मन से आराधना करते हैं। हे प्रभो ! हमारे उन पापों को दूर करो जिन से हम विनाश की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

अर्चन्ति ये त्वां मनसाप्यगम्यं
भवन्ति ते निर्मलबुद्धयश्च ।
तेषां कृतं चाकृतमीक्षमाण
स्त्वं सर्वदैवात्र निराकरोषि ॥ १२६ ॥

मन से भी अगम्य भगवन् ! तेरी दृढ़ आस्था से पूजा करने वाले, निर्मलबुद्धि एवं शास्त्रानुसार कर्म करने वाले होते हैं। उनके कृताकृत कार्य देखते हुए भी तू, अनदेखा करके, समस्त पाप अपराधों को दूर कर देता है।

यदि जाग्रद्यदि स्वप्न एनांसि चकृमा वयम् ।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः ॥
(यजु०, २०. १६)

सुप्ता वयं जागरितास्तथैव
यद् दुष्कृतं पापमथाचराम: ।
तस्माद्धि पापात् प्रसभं स सूर्य:
समन्ततो रक्षतु सर्वदास्मान् ॥ १२७ ॥

सोते अथवा जागते जो कोई पाप हम करें (या पहले किया हो) उस पाप से सूर्यरूप तेजस्वी भगवान् हमारी चारों ओर से रक्षा करे ।

स्वप्ने हि रात्रौ दिवसे प्रबुद्धे
ज्ञानादथाज्ञानयुतै: कथंचित् ।
कृतं हि पापं रविरत्र सर्वं
स्वतेजसा तद्धि निराकरोतु ॥ १२८ ॥

सोते हुए रात में अथवा जागते हुए दिन में, जानकर अथवा अनजाने में, जिस किसी तरह भी हमने कोई पाप किया है, उस हमारे पाप को सूर्य के समान दिव्य तेजस्वी भगवान्, अपने विलक्षण तेज द्वारा दूर करें, अर्थात् हम निष्पाप हो जाएं ।

निद्रामुपेता अथवा विनिद्रा:
कुर्मो वयं दुष्कृतमन्यनिन्द्यम् ।
तच्चात्र सूर्यो निजतेजसैव
विदार्य मुक्तिं प्रददातु शीघ्रम् ॥ १२९ ॥

सोते तथा जागते हम अन्य पुरुषों से निन्दनीय, जिस पाप को करें, उसको सूर्य के समान प्रखर तेजस्वी भगवान्, अपने तेज से ही चीर कर, फाड़ कर, मुक्ति प्रदान करें, अर्थात् उससे मुक्त कराएं ।

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये ।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधिधर्मणि तस्या-
वयजनमसि ॥ (यजु०, २०. १७)

ग्रामे वने वा रहसि क्वचिद्वा
विद्वत्सभायां च ममेन्द्रियैर्यत् ।
स्वसेवके स्वामिनि वान्यधर्मे
कृतं हि पापं जहि देव-देव ! ॥ १३० ॥

किसी ग्राम में, जंगल में अथवा एकान्त में, छुपकर तथा विद्वानों या सज्जनों की सभा में, मन या नेत्र आदि इन्द्रियों से अपने सेवक का स्वामी में, अथवा किसी अन्य व्यक्ति के धर्म में, हमारे द्वारा किए पाप को भगवन् ! एक दम नष्ट कर दो, दूर कर दो ।

बलेन वान्येन मिषेण लोके
येनापि रूपेण कृतं च पापम् ।
तत्त्वं सदा शीघ्रमपाकुरुष्व
गतत्रपस्त्वां विनयेन याचे ॥ १३१ ॥

भगवन् ! मैं निर्लज्ज शर्मिन्दा होता हुआ भी आपसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करता हूँ । मेरे द्वारा बल से, किसी प्रकार कपट से, जिस किसी तरह किए पाप हैं, उनको तुम दूर कर दो, अर्थात् मेरे दोषों को, पापों को अनदेखा करके, मुझ पर कृपा करो, मैं केवल आपके सामने ही लज्जित नहीं, अपने आप से और सांसारिक लोगों से भी लज्जित हूँ । आप से बार-बार यही प्रार्थना है, मुझे निष्पाप कर दो ।

पापापहर्ता कुशलैककर्ता
त्वं केवलं सर्वहिताभिलाषी ।
ततोऽहमद्य प्रणयेन दीन-
स्त्वामेव याचे भगवन् ! नितान्तम् ॥ १३२ ॥

पाप को दूर करने वाला, तथा कल्याण करने वाला, सब का हितचिन्तक, केवल एकमात्र तू है । इसलिए भगवन् ! प्रेमपूर्वक दीन होकर, निरन्तर तेरे आगे याचना करता हूं । प्रभो ! हमारे दुष्कृत को, पाप को दूर करें । हम निष्पाप होकर आपकी आज्ञा का पालन करें ।

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा: सहाग्निना ॥
(यजु०, २०. २५)

क्षात्रं तथा ब्रह्म बलं हि यत्र
समं चरन्तौ नियमास्थितौ तौ ।
यत्राग्निना देवजना: च सन्ति
तं पुण्यलोकं प्रवदन्ति सन्त: ॥ १३३ ॥

जहां ब्रह्म बल और क्षात्र बल, आपस में मिलकर, नियमानुसार एक दूसरे की गतिविधि से मिलकर चलते हैं। जहां पर अपने सर्वाग्रणी, अपने नेता तथा अधिपति, स्वमी के साथ, देवजन अथवा दिव्यगुण-सम्पन्न विद्वान् लोग, सहयोग देते हैं। उसी को महापुरुष, पुण्यलोक कहते हैं।

यस्मिञ्च राष्ट्रेऽग्निसहोदरा हि
स्वराष्ट्रमुत्थापयितुं प्रवृत्ताः ।
राजन्यवर्गाः स्वमनोबलञ्च
नियोज्य तस्मिन् नियता भवन्ति ॥ १३४ ॥

जिस राष्ट्र में ब्राह्मण अपने बुद्धि बल से, राष्ट्र के उत्थान में लगे रहते हैं। एवं क्षत्रिय वर्ग अपने मनोबल को तथा अपनी पूरी शक्ति को, उसको (राष्ट्र को) उन्नत करने में, ऊँचा उठाने में लगाए रहते हैं। वह राष्ट्र सदा सर्वोच्च राष्ट्र तथा पथ-प्रदर्शक होता है।

तस्मिन् सदा नागरिका मिलित्वा
राष्ट्राधिपं स्वं मनसा हि नित्यम् ।
संसेवमाना जगति प्रसिद्धाः
राष्ट्रस्य शोभां परिवर्धयन्ति ॥ १३५ ॥

जहां के नागरिक प्रेमपूर्वक, अपने राष्ट्राधिनायक की, मिल कर यथाविधि नित्यप्रति सेवा में लगे रहते हैं, वे अपने राष्ट्र की शोभा को चार चांद लगाते हैं। वह राष्ट्र वास्तव में उत्तम राष्ट्र है। जहां प्रजा और शासक का मेल बना रहता है। इसका भाव यह है कि जिस देश या राज्य में, शासक प्रजा के साथ सम्पर्क रखता है, एवं प्रजा शासक के प्रत्येक कार्य के गुण-दोष जान कर, शासक को अपनी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा नेक परामर्श देते हैं, और शासक उसे स्वीकार करके प्रजा के हित की कामना करता है, और उस मार्ग को अपना कर सुचारु रूप से तथा सच्चरित्र से, प्रजा के मन में, अपने आपको बिठा देता है।

देहे तथा बुद्धिबले मिलित्वा
सहैव कार्यं कुरुतश्च सम्यक् ।
अन्योन्यमाश्रित्य सदैव तेऽत्र
मिथश्च सापेक्षतया स्थिते स्तः ॥ १३६ ॥

जिस शरीर में (ब्रह्म और क्षत्र) अर्थात् बुद्धि और बल आपस में मिल कर इकट्ठे एक दूसरे के आश्रित होकर तथा आपस में एक दूसरे की अपेक्षा रख कर रहते हैं। वे सदा सफल होते हैं।

स्वकस्य नेतुर्ननु चाधिपत्ये
तदुग्रवेगानि ममेन्द्रियाणि ।
ज्ञात्वात्मनः शक्तिमितस्ततो हि
तमेव सर्वस्वमथामनन्ति ॥ १३७ ॥

भयङ्कर तथा वेगशाली मेरी इन्द्रियां अपने नेता के आधिपत्य में रह कर चारों ओर आत्म-शक्ति को जान कर उसी आत्मा को ही अपना सर्वस्व मानती हैं।

नराकृतिं तं भुवि पुण्यलोक-
मादर्शलोकं प्रथमं हि मन्ये ।
सौभाग्यवन्तं च तमेव लोके
सर्वोत्तमं जीवनमावदन्ति ॥ १३८ ॥

इसी उपर्युक्त पुण्य लोक को (मानव शरीर को) सबसे पहले मैं आदर्श लोक मानता हूँ अर्थात् मानव शरीर ही पुण्यलोक है। उसी को इस संसार में सौभाग्यशाली सर्वोत्तम जीवन कहते हैं।

आकर्ण्य चास्मद्विनयं वरेण्यः
शिरस्यवस्थाप्य करं स्वकीयम् ।
आलिङ्ग्य गाढं हृदयेन तुष्टः
स्वोपासकं चाव करोति तृप्तम् ॥ १३९ ॥

वह वरणीय प्रभु हमारी प्रार्थना को सुन कर अपने वरद हाथ को हमारे सिर पर रख कर प्रसन्नचित्त हृदय से आलिङ्गन करके अपने उपासक को अर्थात् हमें तृप्त कर देता है, निहाल कर देता है, फिर हम आनन्द विभोर जीवन व्यतीत करते हैं। उसकी कृपा के पात्र होकर

हमें ससार की प्रत्येक यथेच्छ वस्तु स्वयं प्राप्त हो जाती है, हमें उसके लिए भाग दौड़ नहीं करनी पड़ती।

यः कोऽपि तं भक्तिरसेन पूर्ण
आकारयत्यत्र सदा विनम्रः।
तस्मिश्च काले वरुणः स्वयं हि
समेति सद्यः करुणार्द्रचित्तः ॥ १४० ॥

जो कोई प्रेम परायण होकर उस वरणीय प्रभु को बुलाता है, पुकारता है, वह प्रभु उसी समय उसकी पुकार से पसीज कर बिना किसी हिचकिचाहट से तुरन्त भागा भागा आ जाता है। हमारी पुकार में हमारी गुहार में आत्मबल की आवश्यकता है, शुद्ध चित्त की सद्भाव की आवश्यकता है। प्रभु तो सुनते ही भागते आते हैं अर्थात् शुद्ध भावना की देर है, उनके आने में देर नहीं।

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय।
त्वामवस्युरा चके ॥ (यजु० २१. १-४)

सम्प्रार्थये हे वरणीय देव!
शृणुष्व मे त्वं विनयं वरेण्य!
स्वकीयरक्षार्थमहं भवन्त
माकारयाम्यद्य सुखाय लोके ॥ १४१ ॥

हे वरणीय परमपिता परमात्मन्! मैं अपनी रक्षा के लिए नम्रतापूर्वक प्रार्थना करता हूं, तुझे बुलाने के लिए, तू मेरी प्रार्थना को सुनकर हे वरेण्य! इस लोक में मुझे आज ही सुखी कर, तू सुख का दाता है, अतः उसके लिए आप से प्रार्थना कर रहा हूं।

करोति पापात् स पृथङ् मनुष्यान्
पापाद् वियुक्ता सुखिनो हि भूत्वा
आत्मार्पणं सानुनयं च कृत्वा
वयं व्रजामः शरणं हि तस्य ॥ १४२ ॥

वही सत्य प्रिय, परम हितकारी, परमात्मा मनुष्यों को पाप से अलग कर देता है, अर्थात् उनके दुर्गुणों दुर्व्यसनों से अलग कर देता है और सद्गुणों में प्रवृत्ति पैदा कर देता है। पाप से मुक्त होकर हम सुखी, और प्रसन्नचित्त खुशी-खुशी आत्मार्पण करके आनन्द विभोर होकर उसकी शरण में पड़ जाते हैं। निष्पाप करने वाला एक मात्र वही प्रभु है, अतः उसके अतिरिक्त कोई नहीं।

आकर्ण्य चास्मद् विनयं वरेण्यः
शिरस्यवस्थाप्य करं स्वकीयम्!
आलिङ्गय गाढं हृदयेन तुष्टः
स्वोपासकं चात्र करोति तृप्तम् ॥ १४३ ॥

वह वरणीय प्रभु हमारी प्रार्थना सुन कर अपने वरद हाथ को हमारे सिर पर रख कर प्रसन्नचित्त हृदय से आलिंगन करके अपने उपासक को अर्थात् हमें तृप्त कर देता है, निहाल कर देता है। फिर हम आनन्दविभोर जीवन व्यतीत करते हैं अर्थात् अपने आपमें झूम-झूम कर संसार में आनन्दपूर्वक जीवन यापन करते हैं।

यः कोऽपि तं भक्तिरसेन पूर्ण
आकारयत्यत्र सदा विनम्रः।
तस्मिश्च काले वरुणः स्वयं हि
समेति सद्यः करुणार्द्रचित्तः ॥ १४४ ॥

जो कोई प्रेम परायण होकर अर्थात् भक्तिभाव से उस वरणीय प्रभु को नम्रतापूर्वक बुलाता है। पुकारता है वह प्रभु उसी समय करुणा से पसीज कर बिना किसी हिचकिचाहट से तुरन्त भागा-भागा आता है। पुकार में आत्मबल को आवश्यकता है, प्रभु तो सुनते ही भागते आते हैं। द्रोपदी ने भरी सभा में भाव विभोर होकर पुकारा प्रभु सरपट दौड़ते आए और आकर उसके मनोरथ को पूरा किया, वह तो भावना और भक्ति के भूखे हैं।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसो जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढा-नड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽ ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ (यजु०, २२. २२)

कल्याणकर्त्र्या किल वेदवाण्या
सदोपदेशं भुवि मानवेभ्यः ।
विप्राय वैश्याय च सेवकाय
राजन्यवंशाय करोमि चाहम् ॥ १५२ ॥

परमात्मा उपदेश देता है—हे मनुष्यो ! जैसे मैं अपनी कल्याणी वेदवाणी के सदुपदेश मनुष्य मात्र के लिए देता हूं । चाहे ब्राह्मण हो, वैश्य तथा क्षत्रिय व शूद्र हो । वैसे आप लोग भी सबके लिए सदुपदेश दिया करो ।

प्रियाऽप्रियाभ्यामथ चेतरस्मै
सर्वोपकाराय महोपदेशम् ।
दास्यामि नित्यं भुवि मानवाय
तथैव युष्माभिरपि प्रदेयः ॥ १५३ ॥

प्रिय और अप्रिय के लिये, अपने और पराए के लिए उस वेद का मैं उपदेश देता हूं । तुम भी इस संसार में उसी प्रकार अर्थात् मेरी तरह सबके उपकार के लिए, भलाई के लिए, उस वेद के महान् उपदेश को नित्य प्रति मधुर स्वर से मीठी वाणी से मनुष्य मात्र के लिए दो अर्थात् वेद का उपदेश देते समय भेदभाव को दूर करके ईश्वरीय जन जानकर प्रत्येक के लिए एक सा व्यवहार करो ।

एवं च कुर्वन्नहमत्र लोके
देवप्रियो दातुरथ प्रियः स्याम् ।
मनोरथोऽयं मम चास्ति चित्ते
तस्यैव सिद्धयै प्रयते सदैव ॥ १५४ ॥

इस प्रकार भगवान् की वाणी वेद का उपदेश करता हुआ मैं दानी अर्थात् इस काम में दान दक्षिणा द्वारा सम्मान करने वालों, अथवा देवों का दिव्य कर्म करने वाले विद्वानों का प्रिय बनूं । मेरे मन में एक मात्र यही कामना है । उसकी सिद्धि के लिए मैं सदा यत्नशील हूँ । भाव यह है—वेद का उपदेश देने में सहायता करने अथवा सम्मान करने वाले का उच्चतम श्रेष्ठ कर्म करने वाले विद्वानों का अति प्रिय बन कर इस भगवद्वाणी का उपदेश करने में सदा यत्न करता रहूँ ।

देवाधिदेवो नरपुंगवांश्च
ब्रूते हि शिक्षार्थमिदं स्वकीय-
वाण्या न भेदोऽस्ति मनुष्यमात्रे
तथा भवद्भिर्नितरां विधेयम् ॥ १५५ ॥

देवाधिपति भगवान् उत्तम पुरुषों को अपनी वेदवाणी का उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे भगवद्प्रिय सज्जनों ! मनुष्यमात्र में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि सबको पैदा करने वाली शक्ति एक समान पैदा करती है । वही उसका पालन-पोषण करती है । अतः तुम भी मनुष्यों में किसी प्रकार का भेद मत समझो, सबको समान अधिकार है । जन्म से किसी का कोई अन्तर नहीं ।

पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जांपते पाहि चतसृभिर्वसो ॥
(यजु०, २७. ४३)

ऊर्जांपते ! चाथवसो ! तथाऽग्ने !
चतुष्टयेनात्मनिवेदनेन ।
त्रायस्व चास्मान् भगवन् ! नितान्त-
मतो वयं त्वां बहुधा नमामः ॥ १५६ ॥

हे अन्न तथा शक्ति के स्वामिन् ! सबको मकान आदि देकर बसाने वाले, ज्ञानस्वरूप, अग्रणी परमेश्वर ! आप अपने ज्ञान के भण्डार चारों वेदों के द्वारा निरन्तर हमारी रक्षा करो । इसलिए हम आपको बार-बार श्रद्धापूर्वक सिर झुका कर नमस्कार करते हैं । इसका भाव यह है अध्यात्म तथा आत्मबल वेद से प्राप्त होता है, अतः उसी वाणी द्वारा आत्मरक्षा की याचना करते हैं ।

त्रायस्व चैकेन सदा परेश !
द्वितीयवेदेन हि पाहि देव ।
एवं तृतीयेन रसोज्ज्वलेन
तुरीयवेदेन तथात्र रक्ष ॥ १५७ ॥

हे सर्वेश्वर परात् पर ! एक से पूर्वोक्त ऋग्वेद से रक्षा कर, हे देवाधिदेव ! दूसरे यजुर्वेद से हमारी रक्षा कर । इसी तरह संगीत रस से देदीप्यमान तीसरे सामवेद से हमारी रक्षा कर एवं चौथे

अथर्ववेद से हमारी रक्षा कर, अलग-अलग वाणियों से भरपूर वेदों से रक्षा कर।

संसारदुःखैः परितप्यमानान्
पीयूषवर्षामृतसारगर्भैः ।
त्वं वेदवाक्यैर्मधुरैः सुरम्यैः
संरक्ष चास्मान् करुणैकसिन्धो ! ॥ १५८ ॥

हे करुणा के समुद्र ! सांसारिक दुःखों से संतप्त हम लोगों की अमृतरसभरी सारगर्भित मीठी तथा रमणीय वेद वाणियों से रक्षा करो।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
(यजु०, ३१. १)

नानाविधज्ञानसमन्वितेन
सहस्रशीर्षेतिपदेन वाच्यः ।
अनन्तशक्तिप्रविलोकनेन
सहस्रनेत्रो विनिगद्यते च ॥ १५९ ॥

अनेक सिरों वाला, अनन्त प्रकार के ज्ञान विज्ञान से युक्त, होने के कारण उस प्रभु को सहस्रशीर्षा कहा जाता है। सहस्राक्ष असंख्य आंखों वाला, अनेकानेक शक्तिसम्पन्न, सर्वद्रष्टा होने के कारण सहस्राक्ष है। सहस्र शब्द के उपलक्षण होने से वह असंख्य सिरों वाला, एवं असंख्य नेत्रों वाला है। इसका यह अभिप्राय है—समस्त प्राणियों के उसी महान् पुरुष के देह में विद्यमान होने से वे सब सिर उसी के हैं—इसीलिए उसके असंख्य सिर हैं। इसी प्रकार उसकी असंख्य आंखें और पैर भी हैं।

सायणाचार्य ने ऋ० भाष्य २०, ९. १ में अपना मत यही प्रदर्शित किया है। स्वामी दयानन्द ने भी इसी प्रमाण को स्वीकार करके यजुर्वेद के अध्याय ३१ के पहले मन्त्र की व्याख्या करते हुए इसका ऐसा समास करके लिखा है :—

सहस्राण्यसंख्यातानि शिरांसि यस्मिन् स सहस्रशीर्षा, (सहस्राण्यसंख्यातानि अक्षीणि यस्मिन् सः सहस्राक्षः) सहस्राण्यसंख्याताः पादा यस्मिन् सः सहस्रपात् ।

अनन्तशक्तिः गमने च तस्य
सहस्रपाद् वा पुरुषः स एव ।
समस्तभूमिं परितोऽवरुध्य
दशांगुलोऽतिष्ठदसौ महेशः ॥ १६० ॥

अनन्त-गति-सामर्थ्य के कारण सर्वगत, चारों ओर से पूर्ण, परम पुरुष परमेश्वर है। वह इस भुवन को अथवा भूमि को सब प्रकार से व्याप्त होकर इस दशांगुल—पञ्चस्थूल एवं सूक्ष्म-भूतात्मक जगत् का अतिक्रमण करके विराजमान है। अथवा पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय रूप दशांगुलियों— दश इन्द्रियों का अतिक्रमण करके विराजमान है। अर्थात् आत्मा के साक्षात्कार का विषय है। दशांगुलं—दशांगुलपरिमितं देशं। दशांगुलमित्युपलक्षणम्। ब्रह्माण्डात् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थितः इति सायणः। हम संसार की प्रत्येक वस्तु को दस अंगुलियों से गिनती कर लेते हैं। वह इससे भी परे है, वह परम विराट् पुरुष है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥
(यजु०, ३१. २)

[illegible]मृतत्वस्य सदा प्रशास्ता
कालत्रयस्यान्नविवर्धकस्य ।
सर्वत्र पूर्णः परमेश्वरश्च
स्वामी समेषां पुरुषः स एव ॥ १६१ ॥

वह परम पुरुष परमेश्वर ही अमृतत्व अर्थात् मोक्ष का स्वामी है। तीनों कालों भूत, भविष्यत्, वर्तमान का वही स्वामी है। अन्न से बढ़ने वाले जीवों का स्वामी भी वही है। सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर अर्थात् वही विराट् पुरुष जगन्नियन्ता सबका स्वामी है।

भूतं च भाव्यं खलु वर्तमानं
स एव सर्वं पुरुषोऽस्त्यपात्र ।
[illegible] न कदापि तस्य
तस्माद्धि मोक्षाधिपतिः स एव ॥ १६२ ॥

जो वर्तमान में है वह पुरुष ही है। जो आज से पहले पैदा हुआ या आगे उत्पन्न होगा वह भी पुरुष ही है। उसकी सांसारिक अन्नादि भोगों में कभी आसक्ति नहीं होती, अतः वह मोक्ष का भी स्वामी है वहाँ भी उसी की शक्ति काम करती है।

तमेव चास्याधिपतिं विचिन्त्य
न्यायेन तस्यैव लभेत यच्च।
त्यागेन सन्तोषमयेन नित्यं
तस्योपभोगः करणीय इत्थम् ॥ १६३ ॥

उसी विराट् पुरुष को सबका मालिक सोचकर उसके न्याय तथा नियम व्यवस्था से जो कुछ मिल जाए, उसका सन्तोषपूर्वक और त्याग से उपभोग करना चाहिए।

संसारभोगैरतिरोहितः स
मुक्तः स्वयं मुक्तिसुखस्य दाता।
उत्पादकोऽसौ जडचेतनानां
मतः स वन्द्यो भुवनत्रये च ॥ १६४ ॥

वह सांसारिक अन्न आदि भौतिक पदार्थों से अतिरोहित है अतिक्रान्त होकर वृद्धि को प्राप्त करता है। वह सांसारिक जीवों के समान अन्न आदि भोग पदार्थों में आसक्त न होकर अनासक्त भाव से विराजमान रहता है। इसी कारण वह मोक्ष का स्वामी है, स्वयं सदा मुक्त होकर रहता है। अपने साधकों को मुक्ति सुख प्रदान करता है, जड़ चेतन संसार को वही उत्पन्न करता है। अतः वह तीनों लोकों में वन्दनीय है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥
(यजु०, ३१. ३)

कालत्रये जातमथात्र लोके
स एष सर्वो महिमा हि तस्य।
ब्रह्माण्डतोऽप्येष महांश्च पूर्णः
पादोऽस्ति चैकः खलु विश्व एषः ॥ १६५ ॥

इस संसार में तीनों कालों अर्थात् भूत, भविष्यत् वर्तमान में जो कुछ पैदा हुआ या होगा या है, वह सब उस विराट् पुरुष की एक मात्र महिमा है, महत्व है, बड़ाई है। वस्तुतः वह परिपूर्ण ब्रह्म इस ब्रह्माण्ड से बहुत बड़ा है। यह चराचर जगत् उस विराट् पुरुष का एक पाद है अर्थात् सारा संसार उसके एक पाद में अंश में स्थित है।

चराचरं यत् प्रविलोक्यते हि
तत् केवलं तस्य महत्वमात्रम्।
ज्यायानतो सर्वत एव लोके
व्याप्तः पृथिव्यां पुरुषः स एव ॥ १६६ ॥

यह जो आश्चर्यकारी चराचर प्राणीजगत् दिखाई दे रहा है, यह केवल उस प्रभु की महिमा है। वह प्रभु सबसे महान् है। इस लोक में अथवा समस्त भुवनों में वही विराट् पुरुष व्याप्त है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं। कहने, सुनने, देखने में अलग-अलग प्रतीत होता है। वास्तव में वही एक है।

संसार के प्राणी ऐसा न जानकर दुष्कर्म में लग जाते हैं। उसका परिणाम आने पर सिर पीट कर पश्चात्ताप करने लग जाते हैं।

आश्चर्यभूते जगति स्थितोऽपि
त्रिपादबिम्बे दिवि विद्यमाने।
मोक्षप्रदं तं पुरुषं महान्तं
प्राप्तुं मनुष्यो मनसा यतेत ॥ १६७ ॥

आश्चर्यजनक संसार में रहते हुए, मनुष्य को उस मोक्षप्रद महान् पुरुष को प्राप्त करने के लिए, मन से यत्न करना चाहिए, क्योंकि उस प्रभु का त्रिपाद—तीन चौथाई भाग मोक्ष स्वरूप द्योतनात्मक-स्वरूप में वर्तमान है, अर्थात् यह सारा संसार एक पाद है, चतुर्थांश मात्र है। उसका त्रिपाद—त्रिचतुर्थांश तो उसके अपने स्थायी रूप स्थित ही है।

त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहा भवत् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥
(यजु०, ३१. ४)

त्रिपादिहैवामृतरूपभूत
ऊर्ध्वस्थितः सन् जगतामधीशः ।
कर्मानुसारं हि चराचराणां
फलप्रदाने निरतोऽविनाशी ॥ १६८ ॥

वह तीन चौथाई अमृतस्वरूप विराट् पुरुष, समस्त भुवनों क नायक, अविनाशी, संसार से ऊपर उठा हुआ है। वहां से वह च तथा अचर जड़-चेतन प्राणियों के कर्मानुसार फल देने में निरन्त लगा रहता है। हम कर्म करने में तो स्वतन्त्र हैं, किन्तु उसका फ देने वाला अदृश्य प्रभु है, केवल अज्ञान का परदा उठाकर उस प्रभु क देखो और उसके नियमों का पालन करो।

व्याप्तः स लोकेषु हि लोकनाथ
आहारशीलानशनांश्च सर्वान् ।
एकेन पादेन करोति नित्यं
विनाशयत्यत्र पुनस्तथैव ॥ १६९ ॥

वह लोकाधीश्वर इस संसार में सर्वत्र व्यापक है अतः वह खा वाले चेतन प्राणियों और न खाने वाले वृक्ष आदि जड़ों को अप एक पाद से सदा उत्पन्न करता है। फिर वैसे ही नाश क देता है।

उत्पादने चाथ हि धारणे च
नियन्त्रणे चाथ फलप्रदाने ।
व्याप्तः पृथिव्यां पुरुषः स एव
सविक्रमोऽसौ नियमानुसारम् ॥ १७० ॥

सर्वत्र व्यापक वह विराट् पुरुष ही उत्पादन-धारण-नियन्त्र कर्मफल देने में अपने सरल नियमानुसार विक्रमवान् हो जाता है।

संसारजालं जटिलं विहाय
तच्चिन्तने व्यस्तमना मनस्वी ।
समाहितस्तं पुरुषं हि लब्धुं
यतेत नित्यं मनसाऽचलेन ॥ १७१ ॥

भयङ्कर तथा जटिल संसार जाल को छोड़ कर मनस्वी, प्रभु चिन्तन में मन लगा कर, उस पुरुष को प्राप्त करने के लिए समाधिस्थ होकर सदा अचल मन से तथा दृढ़ निश्चय से यत्न करे।

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥
(यजु०, ३१. ५)

ब्रह्माण्डपिण्डोऽभवदत्र तस्माद्
ऊर्ध्वं च पिण्डादपि तत्र तस्मात् ।
अमुष्य पूर्णः परमेश्वरो हि
खण्डैर्विभक्तः स पुनश्च पिण्डः ॥ १७२ ॥

उस परमात्मा से वह ब्रह्माण्ड रूप पिण्ड पैदा हुआ। इस विराट् के ऊपर अधिष्ठाता की शकल में वह पूर्ण पुरुष हुआ। पुनः वही विराट् पिण्ड अनेक खण्डों में, टुकड़ों में, भागों में विभक्त हो गया।

उत्पादिता तेन पुनश्च भूमिर्
बहून्यनेकानि वपूंषि तत्र ।
उत्पाद्य सर्वं स व्यवस्थितो हि
संसारमेनं पुनरीक्षते च ॥ १७३ ॥

उसके अनन्तर उस पूर्ण पुरुष ने पृथ्वी को पैदा किया, उसमें अनेक प्रकार के बहुत से शरीरों की रचना की। इनको पैदा करके स्वयं इनके ऊपर विराजमान होकर इस समस्त संसार को तथा सांसारिक प्राणियों के कर्तव्यों को वह अच्छी तरह देखता है। अर्थात् उससे छुपाकर कोई कुछ नहीं कर सकता, वह प्रत्येक कर्म को मनुष्य की चेष्टाओं को अच्छी तरह देखता है, और जानता है। सदा उसको अपने समीप जानो, फिर तुम दुष्कर्म से बच सकोगे।

कर्तव्यमित्यत्र सचेतनानां
तन्निर्मितेष्वेषु जनेषु नित्यम् ।
पुण्यैरनेकैर्नरजन्म लब्ध्वा
ज्ञातुं तमद्धा नितरां यतन्ताम् ॥ १७४ ॥

मनुष्यों का इस संसार में यह कर्तव्य बन जाता है—प्रभु के द्वारा निर्मित इन मनुष्यों में अनेकानेक पुण्यों से प्राप्त इस मानव शरीर से दृढ़ निश्चय से उस अधिष्ठाता प्रभु को जानने का निरन्तर यत्न करें।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥
(यजु०, ३१. ६)

यज्ञस्वरूपात् परमेश्वराद्धि
घृतं तथान्नं दधि चात्र जातम् ।
खगा नभोगा पवनेरिता वा
वनेचरा वा रचिता हि तेन ॥ १७५ ॥

उस परम पूर्ण यज्ञ स्वरूप परमेश्वर से अन्न, घी, दधि आदि पदार्थ पैदा हुए, एवं वायु में उड़ने वाले आकाशगामी पक्षीवृन्द तथा जंगली समस्त जीवों की भी उसी प्रभु नें रचना की है।

सौभाग्यदाता प्रभुरत्र चान्नं
भोग्यान् पदार्थानकरोच्च सर्वान् ।
ग्राम्यानरण्यांश्च पशूँस्तथैव
कृत्वा तु तेभ्यः प्रददाति खाद्यम् ॥ १७६ ॥

उस सुख सौभाग्यदाता प्रभु ने यहां अन्न तथा अन्य सब भोग्य पदार्थों का निर्माण करके मनुष्यों को दिया, पुनः ग्रामीण तथा जंगली पशुओं वा जीवों की रचना करके उनको भी उचित खाने को दिया।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥
(यजु०, ३१ ७)

ज्ञानस्वरूपात् परमेश्वराच्च
ऋग्वेदमन्त्राः प्रथिताः पृथिव्याम् ।
अथर्ववेदोऽथ च सामवेदो
जातश्च तस्माद्धि यजुश्चतुर्थः ॥ १७७ ॥

उस ज्ञान-स्वरूप प्रभु से इस संसार में ऋग्वेद के मन्त्र प्रथित हुए, उसी प्रकार अथर्ववेद और सामवेद, चौथा यजुर्वेद भी उसी से पैदा हुआ।

हिताय वेदाः किल मानवानां
चत्वार एते गदिता हि तेन ।
अतोऽत्र चैवं ह्युचितं जनेभ्यः
स्वाध्याय एषां प्रथमो विधेयः ॥ १७८ ॥

उस ज्ञान-स्वरूप प्रभु ने मनुष्यों के कल्याण के लिए अपने ज्ञान भण्डार चारों वेदों की रचना की, अतः मनुष्यों के लिए उचित यही है, कि उस प्रभु के उपकार को मानते हुए, सबसे प्रथम वेदों का स्वाध्याय करें। भाव यह है प्रभु ने मनुष्य के उत्थान के लिए अपना समस्त ज्ञान वेदों में प्रतिपादित कर दिया है। हम उसे भुला कर संसार के मिथ्या प्रपञ्चों में फंस जाते हैं। उनसे कल्याण होने वाला नहीं, अपितु अनेकानेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। इसलिए अपने और संसार के उपकार के लिए वेद-मार्ग को अपनाएं।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावोह जज्ञिरे तस्मात्तस्याज्जाता अजावयः ॥
(यजु०, ३१. ८)

अश्वाः प्रजाताः परमेश्वराच्च
द्विभागदन्ता पशवोऽपि तस्मात् ।
धेन्वादयो वै रदनैकभागा
अजावयश्चापि तथैव तस्मात् ॥ १७९ ॥

उस परम पुरुष परमेश्वर से घोड़े पैदा हुए, नीचे ऊपर दोनों जबड़ों में दांत वाले पशु भी उसी परमेश्वर से पैदा हुए। गौ आदि

केवल एक जबड़े में दांत रखने वाले एवं बकरी-भेड़ें भी उसी ईश्वर से पैदा हुईं।

उष्ट्रा हयाश्चयोभयदन्तवन्तो
गावो महिष्यो वृषभा हि तस्मात्।
अजावयो वा बहवोऽन्यजीवास्
तस्माद्धि जाता करुणैकसिन्धोः ॥ १८० ॥

दोनों जबड़ों के दांत वाले ऊँट, घोड़े एवं एक जबड़े के दांत वाले—गौवें, भैंसें, बैल उसी ईश्वर से पैदा हुए। बकरी, भेड़ें तथा अन्य बहुत से जीव उसी एकमात्र दया के सागर, परमात्मा से पैदा हुए।

पशूनिमांश्चात्र स नः सुखाय
चकार सर्वांश्च प्रभुः परेशः।
तेषामतः पालनपोषणं च
कर्तव्यमस्माकमिदं हि लोके ॥ १८१ ॥

इन पशुओं को प्रभु हमारे सुख सौभाग्य के लिए ही यहां पैदा करता है। अतः इस संसार में उनका ठीक ढंग से पालन-पोषण करना यह हमारा कर्त्तव्य है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽअजायत ॥
(यजु०, ३१. ११)

प्रभोर्मुखं ब्राह्मणवर्ग आसीत्
क्षात्रं तु बाहू कृतमत्र लोके।
ऊरू तु वैश्यः परमात्मनश्च
पद्भ्यां हि शूद्रोऽभवदत्र तस्य ॥ १८२ ॥

मानव समाज में उस पूर्ण पुरुष की कल्पना करने पर उस परम-पुरुष का मुख ब्राह्मण वर्ग हुआ। भुजाएं क्षत्रिय वर्ग हुआ, वैश्य वर्ग उस प्रभु की जंघाएं हैं और शूद्र वर्ग इस संसार में प्रभु के पैरों से पैदा हुआ, अर्थात् पैरों से प्रसिद्ध हुआ। भाव यह है उस समष्टि पुरुष का मुख ब्राह्मण, भुजाएं क्षत्रिय, ऊरु वैश्य और पैर शूद्र प्रसिद्ध हुए।

त्यागात्तथा संयमधारणाच्च
समष्टिरूपस्य मुखं हि विप्रः।
बाहू तथा क्षत्रियवर्ग एष
तस्याऽत्र लोकस्य हि रक्षणाय ॥ १८३ ॥

त्याग तथा संयम धारण करने से ब्राह्मण उस समष्टिरूप प्रभु का मुख है। क्षत से रक्षा करने के कारण अपने बल से नित्य रक्षा करने वाला क्षत्रिय वर्ग उस समष्टि रूप प्रभु की भुजाएं हैं। अर्थात् ब्राह्मण वेद-ज्ञान का प्रचारक होने के नाते प्रभु का मुख माना गया। क्षत्रिय दीन-दुःखी की रक्षा करने के कारण ही प्रभु की भुजा कहलाती है।

वैश्यस्तथोरू जगति प्रसिद्धो
निर्यातनादेव ददाति सर्वान्।
वर्गत्रयाणां परिसेवनाय
शूद्राभिधानोऽभवदत्र लोके ॥ १८४ ॥

उस समष्टि रूप प्रभु की वैश्य-संसार ऊरू के रूप में प्रतिष्ठित हुआ क्योंकि वह इधर-उधर लाकर और ले जाकर देता है अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान पहुंचाने के कारण वैश्यों को ऊरू की संज्ञा दी गई। समष्टि रूप प्रभु के प्रसिद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-मुख, बाहू, उरू, इन तीनों वर्गों की सेवा के कारण शूद्र को पैर की संज्ञा दी गई अर्थात् यह शरीर का निम्नतम अङ्ग होने से प्रभु का पाद स्थानीय समझा गया।

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥
(यजु०, ३१. १४)

देवा यदा यज्ञमतन्वतात्र
वसन्त आज्यं स तदा बभूव।
ग्रीष्मः समिच्चैव शरद्धविश्च
बभूवतुस्तत्र विशेषतो हि ॥ १८५ ॥

देवों अथवा विद्वान् ज्ञानी महापुरुषों ने यहां पर यज्ञ का मानस-यज्ञ, अध्यात्मयज्ञ, ध्यानयज्ञ का विस्तार किया। उस समय यज्ञ में ऋतुराज वसन्त घी था। एक प्रकार से यह ऋतु घी के समान उसको प्रदीप्त करने वाली थी। ग्रीष्म ऋतु समिधा बनी। समिधा के समान इसको प्रदीप्त करने वाली बनी। शरद् ऋतु हवि के समान थी हवि के समान उसको प्रदीप्त करने वाली बनी, भाव यह कि इन तीनों ऋतुओं के नाम गुण के अनुसार ही कार्य दिया गया। वसन्त फूलों से खिल जाती है, अतः चमक और घी अपनी लपटों से उजाला करता है। ग्रीष्म संतप्त होने से ईंधन का काम करती है एवं शरद् हवि का काम करती है।

यज्ञत्रयाणां हि विधानकाले
वसन्त आज्यं कृत एष देवैः।
प्रज्वालने ग्रीष्म ऋतुस्तु काष्ठं
शरच्च तुल्या हविषा प्रदीप्तुम् ॥ १८६ ॥

मानसयज्ञ, अध्यात्मयज्ञ, ध्यानयज्ञ, इन तीनों के अनुष्ठान के समय ज्ञानी पुरुषों ने वसन्त को घी बनाया और प्रज्वालन के लिए ग्रीष्म को ईंधन बनाया, हवि के समान उसको प्रदीप्त करने वाली शरद् ऋतु को बनाया।

ईशाख्यदेवो हविरत्र देवै
रध्यात्मयज्ञे निहितो यदा हि।
आज्यं वसन्तोऽभवदत्र फुल्लो
ग्रीष्मश्च काष्ठं च हविः शरच्च ॥ १८७ ॥

जब देवताओं ने परमात्मा रूपी हवि द्वारा अध्यात्मयज्ञ में अपने आपको निहित किया, उस समय खिले वसन्त को घी का स्थान दिया, ग्रीष्म को समिधा का स्थान दिया, और शरद् को हवि का स्थान दिया।

कर्तव्यमेतद् विदुषामजस्रं
ध्यानेन तस्याथ जपेन लोके।
अध्यात्मयज्ञेन तमीक्षितुं च
ऋतुत्रयं चास्ति सहायरूपम् ॥ १८८ ॥

ज्ञानी महापुरुषों अथवा साधकों का तथा विद्वानों का यह कर्त्तव्य बन जाता है कि वे ध्यान तथा जप वा अध्यात्म यज्ञ के द्वारा उसका साक्षात्कार करें, उसमें उक्त तीनों ऋतुएं उनकी सहायक होंगी।

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥
(यजु०, ३१. १५)

द्रष्टारमीशमनिशं हृदये निधाय
यं यज्ञमत्र ननु ते विबुधा अकुर्वन्।
तस्येह ताः परिधयो हि भवन्ति सप्त
तस्यैकविंशतिरथो समिधो भवन्ति ॥ १८९ ॥

सर्वद्रष्टा परिपूर्ण ईश्वर को अपने हृदय में धारण करके देवगण तथा ज्ञानी महानुभाव जिस मानसयज्ञ, अध्यात्मयज्ञ, ध्यानयज्ञ का विस्तार वा अनुष्ठान करते हैं। उस यज्ञ की रक्षा के लिए सात परिधियां होती हैं, और इस यज्ञ को प्रदीप्त करने को २१ समिधायें बनाई जाती हैं। इस अध्यात्म यज्ञ को रक्षा के लिए महात्मा बुद्ध ने सप्त समाधि परिष्कार किए हैं वे निम्नलिखित हैं:—

(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्-वाणी, (४) सम्यक् कान्ति (इच्छा), (५) सम्यक् आजीविका, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति। पतञ्जलि के अनुसार समाधि के लिए (१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान। इन सातों का प्रयोग ठीक ढंग से करता हुआ साधक उस परम पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है। इस अध्यात्म यज्ञ को प्रदीप्त करने के लिए २१ समिधाएं हैं, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ११वां मन, ५ स्थूलभूत, ५ सूक्ष्मभूत।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(यजु०, ३१. १८)

प्रकाशमानञ्च दिवाकराभं
मायातमोघ्नं सततं हि दूरात्।
सर्वत्र पूर्णं परमेश्वरञ्च
जानाम्यहं तं पुरुषं महान्तम् ॥ १९० ॥

सूर्य के समान देदीप्यमान, अज्ञानान्धकार को दूर से पछाड़ने वाले, सर्वत्र परिपूर्ण, उस महान् परब्रह्म परमेश्वर को मैं जानता हूँ।

अत्येति मृत्युं मनुजो विवित्वा
संसारचक्रं प्रति मुक्तिवञ्च।
तर्तुं च संसारसमुद्रमत्र
नान्यो विना तं ननु कोऽपि मार्गः ॥ १९१ ॥

संसार चक्र से जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति देने वाले को जानकर मनुष्य मृत्यु से छुटकारा पा सकता है। इस संसार समुद्र को पार करने के लिए इसके अतिरिक्त कोई और रास्ता नहीं है। भाव यह है—केवल मात्र वही शक्ति संसार बन्धन से छुटकारा दिला सकती है। फिर हम उस प्रभु को भूलकर तथा उससे प्रतिपादित ज्ञान को न जान कर अथवा प्रमाद से उसका उल्लंघन कर सांसारिक विषयों में फंस जाते हैं। संसार के लोभप्रद विषयों में सुख अनुभव करते हैं। वास्तव में वे पयोमुख विष घट के समान होते हैं। उनके द्वारा अन्त में मरणासन्न होकर पछताते हैं।

प्रजापतिश्चरतिगर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
(यजु०, ३१. १९)

गर्भे च जीवे ननु सम्प्रविष्टे
प्रजाधिपस्तत्र विराजमानः।
अजोऽपि नित्यं बहुधा समेति
पश्यन्ति तत् कारणमत्र धीराः ॥ १९२ ॥

समस्त प्रजाओं का स्वामी, ईश्वर गर्भ में प्रविष्ट जीवात्मा में विराजमान रहता है। कोई ऐसा स्थान नहीं, जहां उसकी पहुंच न हो, वह व्यापक होने के कारण सर्वत्र विराजमान है। वह अजन्मा होता हुआ भी अनेक तरह से प्रकट होता है, उस प्रभु के उस कारण को धीर-स्थितप्रज्ञ पुरुष जानते हैं।

समस्तलोका भुवनानि तस्मिन्
वसन्ति नित्यं जगतामधीशे।
स्वाभीष्टलक्ष्यं परिपूरणार्थं
संचिन्तनं तस्य सदा विधेयम् ॥ १९३ ॥

समस्त लोक तथा सब भुवन उस संसार के स्वामी प्रजापति में नित्य निवास करते हैं, अतः अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधक को उसका सदा चिन्तन करना चाहिए। भाव यह है—जब यह निश्चित सिद्धान्त है कि समस्त भुवन प्रभु में स्थित हैं, तो फिर हम उसको पाने के लिए इधर उधर क्यों चक्कर काटते हैं। अगर किसी लक्ष्य को पाना है तो अपने अन्दर देखें, वह हम से दूर नहीं।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपसाते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥
(यजु०, ३२, १४)

मेधां च यां देवगणा हि लब्धुं
कुर्वन्ति चाग्ने तव चात्र पूजाम्।
मेधाविनं मां च तथा कुरुष्व
सम्प्रार्थयेऽहं नितरां तवाग्रे ॥ १९४ ॥

हे ज्ञानस्वरूप, सर्वाग्रणी परमपिता परमात्मन्! जिस धारणावती व्यवसायात्मिका बुद्धि को प्राप्त करने के लिए ऋषि, मुनि, योगी तथा ज्ञानी महानुभाव तेरी यहां पूजा अर्चना करते हैं। इसी धारणावती बुद्धि के द्वारा मुझे मेधावी बना, मेरी तेरे चरण कमलों में यह प्रार्थना है।

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥
(यजु०, ३२. १५)

पापापहारी　वरणीय　देवो
　　ददातु मेधां परमां हि पूताम् ।
ज्ञानस्वरूपो　भुवि　चाग्निदेवो
　　ददातु शुद्धां मतिमत्र मह्यम् ॥ १९५ ॥

पाप को हरण करने वाले परमेश्वर मुझे धारणावती शुद्ध बुद्धि प्रदान करें। ज्ञानस्वरूप, प्रकाशमान, सर्वाग्रणी प्रभु मुझे व्यवसायात्मिका धृति सम्पन्न शुद्ध बुद्धि दे। संसार के बन्धनों से मुक्त करने वाली एक मात्र यही बुद्धि है।

ऐश्वर्यशाली　प्रभुरिन्द्रदेवो
　　विभुश्च वायोरिव सर्वगश्च ।
जगद्विधाता　निजवेदवाण्या
　　करोतु शुभ्रां मतिमुत्तमां मे ॥ १९६ ॥

समस्त ऐश्वर्यों के भण्डार, दिव्यदेव, परमात्मा और वायु के समान सर्वत्र गतिशील सर्वव्यापी परमेश्वर सृष्टिकर्ता परमपिता प्रभु अपनी वेदवाणी से मुझे सब महान् शक्तियां धारणावती उत्तम मति प्रदान करे।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(यजु०, ३४. १४)

निद्रावसानेऽपि　मनो　मदीयं
　　प्रयाति दूरं सहसैव लोके ।
स्वप्नेऽपि चेत्थं प्रति याति दूरे
　　तज्ज्योतिषां ज्योतिरिदं विचित्रम् ॥ १९७ ॥

जागते हुए भी मेरा मन एक दम दूर तक चला जाता है। वह सब इन्द्रियों की ज्योतिरूप ज्योति है, वह बड़ा विचित्र है। सोते व्यक्ति को भी दूर तक ले जाता है, अतः वह मेरा मन शिव संकल्प हो।

प्रतिक्षणं [illegible]
　　[illegible] ।
तथैव [illegible]
　　[illegible] ॥ १९८ ॥

लगातार सब लोगों [illegible] रहता है। उसी प्रकार मेरा [illegible] ही है, वह आत्म-बोध [illegible] वाला है।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो [illegible] ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां [illegible] ॥
([illegible])

आत्मानुरूपं　स्वमनो　[illegible]
　　कर्माण्यनेकानि [illegible] ।
भयङ्करे　वा　समये　[illegible]
　　कुर्वन्ति [illegible] ॥ १९९ ॥

जिस अनेक सामर्थ्यों से [illegible] अनुकूल रखने के लिए, या आत्मानुकूल [illegible] शुभ कर्मों को भयङ्कर समय [illegible] संगतिकरण वा दानादि सत्कर्मों में [illegible]।

अपूर्वमात्मेन्द्रियवर्गकोशे
　　बलोन्नतं वा [illegible] ।
अभ्यन्तराद् बोधकरं सदा हि
　　श्रेयस्करं तच्च मनो [illegible] ॥ २०० ॥

अपूर्व आत्मा के करणों में अर्थात् इन्द्रिय [illegible] शक्तिशाली, समस्त प्राणियों में स्थित-अन्तःकरण [illegible] बोध कराने वाला वह मेरा मन सदा कल्याणकारी हो।

यत् प्रज्ञानमुतचेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(यजु०, ३४. ३)

बुद्धया परं स्वं परिबोधकञ्च
स्मृत्या च धृत्या समवस्थितं हि ।
ज्ञानस्य वान्यानुभवस्य कोशं
तच्चामृतं ज्योतिरिहास्ति लोके ॥ २०१ ॥

जो मन ज्ञान का साधन बुद्धिरूप अपने आप समझने में तथा दूसरों को समझाने की शक्ति रखता है। ज्ञान तथा अन्यान्य अनुभवों का कोश, स्मृति तथा धारणा शक्तियुक्त, जो मनुष्य वर्ग में अमर-ज्योति के रूप में विराजमान रहता है। वह मेरा मन शिव-संकल्प हो।

अन्तः शरीरे वसतीह नित्यं
क्षीणं न यावद् भवतीह चायुः ।
यस्माद् ऋते किञ्चन नात्र कार्यं
सच्चिन्तनं मेऽस्तु मनोविचारम् ॥ २०२ ॥

जो प्राणियों के शरीर में नित्य बना रहता है, जब तक पुरुष का जीवन बना रहता है, अर्थात् मृत्यु पर्यन्त साथ देता है। जिसके बिना संसार में कोई कार्य नहीं होता अर्थात् सब कार्यों में एकमात्र वही सहायक है। उस मेरे मन का चिन्तन सच्चा तथा उत्तम विचार हो। अर्थात् मन में दुष्भाव आने से ही जीवन विनाश की ओर अग्रसर हो जाता है, उस भाव को मन के सद्-विचार दूर कर सकते हैं।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(यजु०, ३४. ४)

कालत्रयावस्थितमत्र सर्वं
येनामृतेनैव गृहीतमस्ति ।
अध्यात्मयज्ञे ननु सप्तहोता
तन्मे मनः स्याच्च शिवाय लोके ॥ २०३ ॥

जिस अमृत [illegible] आत्मा के साथ रहने वाले मन से [illegible] सब कुछ जान लिया जाता है, [illegible] अर्थात् दो आँख, दो नथूने, दो कान, [illegible] जीवन यज्ञ किया जाता है, [illegible] हो।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् [illegible] ।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां [illegible] ॥
[illegible]

यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता [illegible] ।
चक्रे यथारा नियता [illegible]
प्रोतं [illegible] ॥ [illegible] ॥

जिस मन में ऋचाएं [illegible] यजुर्वेद के गद्य रूप में मन्त्र अनेक प्रकार [illegible] चारों वेद रथचक्र की नाभि में अरों (तिलि) के [illegible] उसी प्रकार यह मन सब प्राणियों में ओत-प्रोत है। [illegible] के अनुसार प्राणीजगत् को चलाता है।

ज्ञानं प्रजानामय [illegible]
प्रच्छन्नमस्तीह [illegible] ।
यथा तथा सर्वमनेन [illegible]
तन्मे मनः स्याच्च [illegible] ॥ [illegible] ॥

जिसमें सब प्रजाओं का समस्त [illegible] ज्ञान जो यहां गुप्त रूप से छुपा हुआ है, [illegible] जानता है। वह मेरा मन सदा कल्याणकारी हो।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(यजु०, [illegible])

श्रेष्ठो यथा सारथिरत्रचाश्वान्
स्वप्रग्रहेण त्वरितं नियन्त्य ।
गन्तव्यमार्गे नयतीह लोके
स्वेच्छानुसारं हि मनस्तथैव ॥ २०६ ॥

जैसे श्रेष्ठ तथा योग्य सारथि अपनी निपुणता और लगाम से घोड़ों को वश में करके अपने गन्तव्य स्थान पर ले जाता है। उसी प्रकार मन भी अपनी इच्छानुसार प्राणियों को जहाँ चाहे ले जाता है।

हृदि स्थितं यच्च सदा जविष्ठं
स्वचञ्चलं भावमुपेतमद्धा ।
मनुष्यवर्गं विषयेषु लीनं
विधातुमुत्कं स्वबलेन नित्यम् ॥ २०७ ॥

वह मन जो सदा हृदय में विराजमान रहता है—वह सदा तरुणावस्था में ही रहता है, कभी बूढ़ा नहीं होता, अपने चञ्चल स्वभाव से निश्चित रूप से मनुष्यमात्र को अपने बल से विषयों में फंसाने के लिए सदा उद्यत रहता है।

संकल्पमात्रेण हयैरिवैतन्
मनो मनुष्यान् प्रतिकर्षतीह ।
हृदन्तरे चापि बलोद्धतं तत्
सत्यैकसंकल्पयुतं भवेन्मे ॥ २०८ ॥

जो मन संकल्प मात्र से घोड़ों के वेग के समान शीघ्र ही मनुष्यों को भटका कर अनुचित मार्ग में ले जाता है, वह मन हृदय में बैठा हुआ भी अपने बस से उदण्ड मेरा मन संसार में सत्य संकल्प वाला हो, कभी कुमार्ग की ओर अग्रसर न हो।

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ॥
(यजु०, ३४. ३४)

अग्निं प्रभाते [illegible]
[illegible] ।
तथाश्विनौ [illegible]
[illegible] ॥ २०९ ॥

नित्य प्रति प्रकाश तथा [illegible] मित्र और वरण करने योग्य, [illegible] दाता तथा प्रिय, [illegible] प्रातःकाल सर्वव्यापक प्रभु का तथा [illegible] करते हैं।

संपोषकं सर्वविधं [illegible]
वेदाधिपं [illegible] ।
सर्वाशयस्थं [illegible]
प्रातर्हि सोमं [illegible] ॥ २१० ॥

संसार में निरन्तर सब तरह सबका पोषक [illegible] स्वामी बृहस्पति सर्वान्तर्यामी सबके लिए [illegible] प्रभु का दुष्टों के दमन करने वाले परमात्मा का हम [illegible] आह्वान करते हैं बुलाते हैं।

प्रातस्तु नित्यं भुवि चाग्निरूप-
मैश्वर्यसम्पन्नमुरुं [illegible] ।
बृहस्पतिं वेदविदेषु धीरं
रुद्रं भगं पूषणमाह्वयामः ॥ २११ ॥

प्रातः काल अग्रणी प्रभु को तथा महान् ऐश्वर्यशाली [illegible] वेदज्ञ महापुरुषों में धीर एवं दुष्टों को रुलाने वाले प्रभु को तथा भजनीय व सब प्रकार से पुष्ट करने वाले परमात्मा का हम [illegible] प्रातः आह्वान करते हैं सच्चे मन से बुलाते हैं।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं [illegible] ॥
(यजु०, [illegible])

ब्राह्मे मुहूर्ते जयशील ईश
आराधनीय: परमात्मरूप: ।
तेज:स्वरूपो भुवनैकदेव:
समस्तभूमण्डलपावनश्च ॥ २१२ ॥

प्रात: ब्राह्म मुहूर्त में जपशील सदा विजयी रहने वाले प्रभु का भजन पूजन करने योग्य परमात्मा का तथा समस्त भुवनों के आराध्य देव परमतेजस्वी प्रभु का, ब्रह्माण्ड तथा पृथिवी को पवित्र करने वाले प्रभु का आराधन करना चाहिए।

धर्त्तास्ति लोकस्य तथास्य योऽसौ
लोकान्तरणामपि धारकोऽस्ति ।
स्वसेवनीयं यमकिञ्चनोऽपि
स मन्यते किञ्च धनाधिपोऽपि ॥ २१३ ॥

जो सब लोक लोकान्तरों को धारण करने वाला है। जिसको अकिंचन निर्धन गरीब भी अपना सेवनीय मानता है, न केवल दरिद्र बल्कि धन-प्रभाव से शीघ्रकारी धनी भी स्वीकार करता है।

दण्ड्यस्य यो दण्डविधायकोऽसौ
बलाधिको वा नृपतिस्तथैव ।
सामर्थ्यवन्तो निखिलाश्च लोके
तमेव सेव्यं परमाह्वयन्ति ॥ २१४ ॥

दण्डनीय दुष्ट को दण्ड विधान करने वाला भी तथा बलवान् और राजा एवं सब शक्तिशाली संसार में उसी परम सेवनीय प्रभु को बुलाते हैं, पुकारते हैं—हे प्रभो ! आओ।

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्न: ।
भग प्र नो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्त: स्याम ॥
(यजु०, ३४. ३६)

ऐश्वर्ययुक्तो [illegible]
[illegible] ।
सत्यैकलभ्यो [illegible]
[illegible] ॥ २१५ ॥

समस्त ऐश्वर्ययुक्त [illegible] वाले तथा निर्वाण [illegible] संसार के बन्धन [illegible] करने योग्य।

ज्ञानं तथा कर्मवती [illegible]
[illegible] ।
अश्वैश्च गोभिर्भग ! [illegible]
[illegible] ॥ २१६ ॥

हे प्रभो ! तू हमें [illegible] दयार्द्रचित्त—परम दयालो ! [illegible] भगवन्, तू हमें घोड़े अथवा [illegible] तेरी कृपा से हम श्रेष्ठ पुत्र, नौकर, सेवक, [illegible] मनुष्यों वाले बनें।

देया विवेकेन्द्रिय[illegible]
कर्मेन्द्रिया[illegible] ।
ज्ञानप्रदास्ता [illegible]
तामन्नदां भूमि[illegible] ॥ २१७ ॥

हे परमैश्वर्यशाली भगवन् ! हमें [illegible] कर्मेन्द्रिय रूप शीघ्रगामी उत्तम घोड़े प्रदान कर [illegible] करने वाली वेद की ऋचा रूप गौवें दो, इसके [illegible] करने वाली भूमि दो।

अनेन सार्धं मनुजोत्तमैस्तै:
सन्तानशिष्यै: पुरुकीर्तिमद्भि: ।
श्रेयस्करैर्वान्यसुसाधनैश्च
युक्तान् सदास्मान कुरु [illegible] ! ॥ २१८ ॥

हे परमेश्वर ! इसके साथ उत्तम मनुष्यों तथा यश प्राप्त सन्तान तथा शिष्यों से व अन्य कल्याणकारी साधनों से हमें युक्त कर।

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥
(यजु०, ३४. ३७)

प्रभातकालेऽप्यथ चेदिदानीं
पूर्वाह्णकाले च तथा पराह्णे ।
सूर्यास्तकालेऽथ दिनान्तरे च
सूर्योदये वा मघवन् ! सदैव ॥ २१९ ॥

हे भगवन्, हम इस समय तथा प्रभात वेला में—पूर्वाह्न अपराह्न एवं सूर्यास्त व दिन के अन्तराल में तथा प्रातः सूर्योदय के समय अर्थात् सदा ही।

क्षमान्वितास्ते च दयाश्रिता हि
वयं भवामो धनधान्ययुक्ताः ।
विद्वद्जनानामथ सज्जनानां
संगं हि कुर्मः वयमत्र नित्यम् ॥ २२० ॥

हे सर्वैश्वर्यों के स्वामी भगवन् ! हम अपने पुरुषार्थ से तथा तेरी दया के सहारे धन-धान्य युक्त हों। ज्ञानी तथा विद्वान् सज्जन पुरुषों की हम सदा संगति में रहें और उनकी सुमति में रहें।

भग एव भगवां अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्वइज्जोहवीति स नो भग पुर एताभवेह ॥
(यजु०, ३४. ३८)

भगोऽस्तु नित्यं भगवांश्च लोके
दिव्यस्वभावा परमोज्ज्वलाश्च ।
भगाधिपास्तेन वयं भवामः
संसेवनीयः प्रभुरत्र सर्वैः ॥ २२१ ॥

ऐश्वर्य का [illegible] हो, हे दिव्य-स्वभाव वाले परमोज्ज्वल [illegible] भी भग वाले ऐश्वर्य के [illegible] हम सबको सेवा करनी चाहिए।

श्रद्धान्वितास्ते [illegible] हि
स्मरन्ति तं [illegible] ।
वदन्ति चैवं [illegible]
त्वमग्रगामी भव [illegible] ॥ [illegible] ॥

श्रद्धा से नत-मस्तक उसी का [illegible] ऐश्वर्यशाली प्रभु से कहते हैं—हे [illegible] नायक बन कर हमें ऐश्वर्यशाली बनने [illegible]।

श्रेयः स्वकीयं यदि मानवा हि
वाञ्छन्ति [illegible] ।
समाहिता ध्यानपरा [illegible]
भगाकरं तं मनसा [illegible] ॥ [illegible] ॥

हे मनुष्यो ! यदि तुम इस संसार में [illegible] भगवान् का चिन्तन करते हुए [illegible] ऐश्वर्य के खजाने को मन से दत्त-चित्त होकर [illegible] प्रभु पूर्ण रूप से अपना लेते हैं।

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव [illegible] ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन [illegible] ॥
([illegible])

शुद्धस्य तस्याथ तथाप्तिहेतोः
स्वपृष्ठमारोपयितुं [illegible] ।
निजावरोहाय सदा विनम्र
आरोहणार्थं हृदयस्य [illegible] ॥ [illegible] ॥

शुद्ध परब्रह्म की प्राप्ति के लिए अपनी पीठ पर [illegible] बैठाने के लिए घोड़ा जैसे झुक जाता है, उसी प्रकार [illegible] पर बैठाने के लिए।

उपासकोप्यत्र तथैव नम्र
अध्यात्मयज्ञाय तथा प्रभाते ।
अहिंसनीया उषसो नमन्ति
वेगाद् यथाश्वा हि रथं नयन्ति ॥ २२५ ॥

साधक भी, प्रभु का उपासक भी प्रभु को अपने हृत्पृष्ठ पर बैठाने के लिए झुक जाता है। ये उषा बेलाएं—ये प्रभात बेलाएं अहिंसनीय यज्ञ के प्रतिपादन के लिए झुक जाती हैं जैसे तेज गति घोड़े रथ को ले जाते हैं।

तथान्यवस्तून्यपि सार्धमेव
समानयन्ति स्वनिवासकानि ।
तथोषसोप्पीशमनन्तमस्मत्-
कृते च तूर्णं हि समानयन्ति ॥ २२६ ॥

या उसमें स्थित अन्य वस्तुएं, निवास आदि के साधन का सामान हमारे लिए साथ में ले आते हैं। वैसे ही ये उषा वेलाएं उस अनन्त तथा महान् प्रभु को हमारे सामने शीघ्र ही ले आएं अर्थात् उस प्रभु का दर्शन करवाएं।

अध्यात्मयज्ञस्य हि पूरणाय
प्राप्तुं च तस्मात् परमेश्वरं हि ।
अश्वा इवोपासकमानमन्ति
प्रवृद्धतेजा उषसः प्रफुल्लाः ॥ २२७ ॥

अध्यात्म यज्ञ की पूर्ति के लिए और उससे परमेश्वर की प्राप्ति के लिए। अपने तेज को चमकाती हुई तथा खूब खिली हुई उषा बेलाएं-घोड़ों के समान उपासक-साधक के चारों ओर झुक जाती हैं।

अध्वानमुत्क्रम्य रथं यथाश्वा
स्तथा च तस्मिन् स्थितमानयन्ति ।
तथैव पूता उषसो भगेशं
प्रभुं च वै सम्मुखमानयन्तु ॥ २२८ ॥

वायु के [illegible] गति से पार करके [illegible] को ले जाते हैं। उसी [illegible] प्रभु को हमारे [illegible] ।

अश्वावतीर्गोमतीर्न [illegible] ।
घृतं दुहाना [illegible] ॥
[illegible]

कल्याणवास्ताः [illegible]
[illegible] ।
युक्ता हि [illegible]
प्रकाशिताः [illegible] ॥

सब प्रकार से [illegible] और वीर पुत्रों से युक्त होकर [illegible] सदा प्रकाशित हों।

समुज्ज्वला हे [illegible]
[illegible] ।
प्रदीप्यमाना [illegible]
श्रेयःप्रदाः [illegible] ॥

हे उज्ज्वल तथा पवित्र [illegible] को तथा ओस जल को दुहती हुई [illegible] प्रसन्न होकर अपने साधक की उन्नति [illegible] तत्पर रहो।

प्रभातकाले स्वसमृद्धिमाप्ता
श्रेयःप्रदास्ता उषसः [illegible] ।
स्वसाधकाय स्वत एव दत्त्वा
यथेष्टवस्तूनि सुखेन [illegible] ॥

प्रभातकालीन उषा-वेलाएं अच्छी तरह [illegible] सौभाग्यों से अपने कल्याणों से अपने साधक को [illegible] सुखपूर्वक रक्षा करें।

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाज शत्किलासथ यत्सवनवथ पूरुषम् ॥
(यजु०, ३५, ४)

अश्वत्थवृक्षे स्थितिरत्र नृणां
तस्यापि पत्रे च विकम्पमाने ।
तथापि मर्त्या विषयेषु लीना
आश्चर्यमेतद् महदस्ति लोके ॥ २३२ ॥

हे मनुष्यो ! प्रभु ने तुम्हारा निवास पीपल के पेड़ पर किया है न केवल पीपल के पेड़ पर अपितु उसके काँपते हिलते डुलते पत्ते पर किया है। क्षणभङ्गुर जीवन समझते हुए भी मनुष्य अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए विषयों में डूबा रहता है। इससे बढ़ कर और क्या आश्चर्य हो सकता है।

अनित्यसंसारसमाश्रितानां
कर्तव्यमेक प्रभुचिन्तनं हि ।
विहाय तत्सर्वमनित्यमित्थ-
मुत्साहपूर्वं मनुजाः भजन्ति ॥ २३३ ॥

क्षणभङ्गुर अनित्य संसार में रहते हुए मनुष्यों का प्रभु चिन्तन कर्तव्य था, उसको छोड़कर न रहने वाली समस्त संसार की उपलब्धियों को बड़े उत्साहपूर्वक सेवन करते हैं। उन्हीं का रात दिन चिन्तन करते हैं तथा प्राप्त करने का यत्न करते हैं।

श्वो नास्ति चेत्थं परिचिन्त्य मर्त्या
अश्वत्थवृक्षं जगदेकरूपम् ।
विज्ञाय चैवं दृढनिश्चयेन
तं देवदेवं सततं भजन्तु ॥ २३४ ॥

अश्वत्थ को पीपल का पेड़ कहा जाता है—इस रूढ़ि अर्थ को छोड़ कर व्युत्पत्यर्थ लिया जाय तो अधिक संगत होता है। वह इस प्रकार है—"जो कल नहीं रहे, जो कल न ठहरे" अर्थात् अश्वत्थ—संसाररूप वह वृक्ष है जो आज है और कल नहीं। अतः इस प्रकार

अपने मन में दृढ़ निश्चय करके मनुष्यों को सर्वेश्वर ईश्वर का निरन्तर रात दिन भजन करना चाहिए। इसका भाव यह है—संसार को क्षणभंगुर जानकर सदा मानव को प्रभु चिन्तन में अपने आपको लगाना चाहिए अन्यथा यह अनमोल जन्म निरर्थक चला जाएगा उसके पश्चात् हम कुछ नहीं कर सकते।

शं वातः शं हि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः ।
शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभि शूशुचन् ॥
(यजु०, ३५, ८)

वायुश्च सूर्यश्च तथेष्टकाश्च
ये चाग्नयः सन्त्यथ पार्थिवाश्च ।
तथान्यतेजांसि तथैव लोके
सुखप्रदा सन्तु न दुःखदास्ते ॥ २३५ ॥

हे जीव ! वायु, सूर्य, ईंटें (यज्ञ-मण्डप की) ये सब सदा तेरा कल्याण करें। पृथिवी पर वर्तमान अग्नि तथा अन्य तेजस्तत्व विद्युद् आदि तुम्हारे लिए सुखप्रद हों, कोई दुःखप्रद न हो।

वायुश्च सूर्योऽथ मनोरथाश्च
यज्ञेष्टिका वा भवनेष्टिकाश्च ।
अहर्निशं चाग्निरथान्यतेज
उभे च सन्ध्ये हि सुखाय सन्तु ॥ २३६ ॥

वायु, सूर्य, मन की इच्छाएं अभिलाषाएं यज्ञ-मण्डप की ईंटें तथा सद्गृहस्थ की लगी हुई ईंटें जिन से घर का निर्माण हुआ है। रात दिन अग्नि तथा अन्य तापप्रद विद्युत आदि एवं दोनों सन्ध्या काल हे मानव ! ये सब तेरे सुख कल्याण के लिए हों। प्रभुरचित कोई भी वस्तु तथा अन्यान्य साधन वे सब तेरे अभ्युदय के लिए हैं यदि उनका सदुपयोग किया जाए अन्यथा अहितकर होकर विनाश का कारण बन जाएंगी।

कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः ।
अन्तरिक्षं शिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः ॥
(यजु०, ३५, ९)

सर्वा दिशस्ते हि शिवाय सन्तु
तासु स्थिता प्राणिजनास्तथैव ।
जलं च नद्योऽपि सुखाय सन्तु
सर्वे समुद्रा अपि ते शिवाय ॥ २३७ ॥

हे मानव ! पूर्व-पश्चिमादि चारों दिशाएं तथा उनमें रहने वाले मनुष्य तेरे कल्याण के लिए हों। जल को बहाने वाली नदियां तेरे लिए सुखकारी हों, एवं जलाधार समस्त तेरे कल्याण के लिए हों।

नभो विशालं च नभश्चराश्च
नक्षत्रवृन्दानि समुज्ज्वलानि ।
सर्वा दिशो देवगणाश्च तासां
श्रेयस्करास्ते हि भवन्तु नित्यम् ॥ २३८ ॥

हे मानव ! विशाल अन्तरिक्ष-आकाश तथा उसमें रहने वाले देदीप्यमान नक्षत्र समूह एवं नभचारी पक्षी और सब दिशा विदिशाएं तथा उनके अधिदेव देवगण तुम्हारे लिए सदा कल्याणकारी हों। इस का भाव यह है—पृथिवी से लेकर आकाश तक जड़ चेतन स्थावर और जंगम जो कुछ भी प्रभु की सृष्टि में है। वे सब तेरे भले के लिए अभ्युदय के लिए हैं। यदि तू उनके महत्त्व को समझ कर आचरण करे।

सर्वत्र पापाचरणं विहाय
पुण्ये रतिं चात्र विधाय लोके।
इहेश्वरन्यायविधौ प्रहृष्टः
सौभाग्यमेत्वत्र नरो जगत्याम् ॥ २३९ ॥

हे मानव ! सब जगह शरीर, वाङ्, मन से पापाचरण को छोड़ कर इस लोक में पुण्यकारी कर्मों में मन को लगा कर उस ईश्वर की न्याय व्यवस्था के अनुसार चलता हुआ तू सुख सौभाग्य को प्राप्त कर।

अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा ये असञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥
(यजु०, ३५. १०)

पाषाणरूपैर्विषयैश्च युक्ता
कामप्रवाहैरतिवेगशीला ।
संसाररूपा हि नदी प्रवृद्धा
सर्वत्र वेगेन वहत्यजस्रम् ॥ २४० ॥

विषयरूपी पत्थरों वाली, काम-वासना के प्रवाहों से अति तीक्ष्ण गति, काम विषयवासना रूपी लहरों से चारों तरफ से खूब बढ़ चढ़ कर संसार रूपी नदी निरन्तर बह रही है।

मार्गस्य चैकस्य हि येऽपि पान्थाः
परस्परं यूयमनन्यगत्याः ।
सर्वे मिलित्वा खलु संरभध्वम्
उद्योगमेनां तटिनीं च तर्तुम् ॥ २४१ ॥

एक ही तथा समान पथ के, हे पथिको ! एक स्वभाव होने से आपस में अच्छी तरह सबके सब मिलकर अनन्य गति और दृढ़ निश्चय से इस संसार रूपी पथरीली नदी पार करने के लिए उद्योग करो।

प्रत्यूहरूपा अथ दुर्गुणा ये
पापानि वा दुर्व्यसनानि यानि ।
सर्वाणि चास्मिन् पथि संगतानि
त्याज्यानि तान्यत्र सदा भवद्भिः ॥ २४२ ॥

तुम्हारे इस रास्ते में विघ्न रूप तुम्हारे पाप व दुर्गुण अथवा दुर्व्यसन जो हैं, इन सबको तुम्हें यहीं छोड़ना होगा नहीं तो इस भयङ्कर नदी में डूब जाओगे।

लक्ष्योपयोगीति बलं समग्रं
श्रेयस्करं तच्च यथेष्टमन्नम् ।
सम्प्राप्य तां भोगवतीं प्रसिद्धां
तरेम संसारनदीं प्रसह्य ॥ २४३ ॥

अपने लक्ष्य की ओर ले जाने वाले, समग्र बल को तथा कल्याणकारी पवित्र यथेष्ट अन्न को प्राप्त करके हम विषय वासनाओं से भरी हुई संसार नदी को बलपूर्वक जबरन पार कर सकते हैं।

संसारनद्यां विषयात्मवत्यां
मनोविकाराय च साधनानि ।
संवीक्षमाणा अविवेकिनश्च
मज्जन्ति तस्यां हतभाग्यशीलाः ॥ २४४ ॥

इस संसार नदी में विषयरूपी पाषाण भरे पड़े हैं। इस पथरीली नदी में मन को विकृत करने वाले, और भी बहुत से साधनों को देखते हुए अविवेकी मूर्ख लोग दुर्भाग्यवश उसमें डूब जाते हैं। बार-बार संसारनदी के भवरों में डूब कर रह जाते हैं।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाति तृणं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ (यजु०, ३६. २)

यदक्ष्णोर्मे हृदयस्य मे वा
तथा त्रुटिर्या मनसोप्यसाध्या ।
भयङ्करो यश्च महान् स दोषो
बृहस्पतिस्तं विनिवारयेच्च ॥ २४५ ॥

मेरी आंख, हृदय तथा मन की असाध्य त्रुटि को—न्यूनता को, जो भयङ्कर तथा बहुत विस्तृत दोष है। उसे समस्त ब्रह्माण्ड का स्वामी परमेश्वर सदा के लिए दूर करे।

पूर्वोक्तदोषानपहर्तुमत्र
स एव शक्तो भुवनेश्वरो हि ।
ज्ञानेन पूर्णः प्रथमः पृथिव्यां
स विद्यमानो भुवनान्तरेऽपि ॥ २४६ ॥

पूर्वोक्त आंख, मन हृदय के दोषों को इस संसार में केवल वही भुवनाधिपति परमेश्वर ही दूर कर सकता है। वह इस पृथिवी पर आदि शक्ति है, और अन्य भुवनों में भी वही सर्वत्र विद्यमान है।

विशुद्धचित्तैर्मनुजैः सदा हि
स एव सेव्यः स्वशिवाय लोके ।
नान्योऽस्ति कश्चिद् भुवि तेन तुल्य
स्तस्मात् स पूज्यः मनसोऽप्यचिन्त्यः ॥ २४७ ॥

इस संसार में अपने कल्याण के लिए विशुद्ध चित्त मनुष्यों का वही एक मात्र सेवनीय है। उसके समान संसार में और कोई नहीं है। मन से भी अचिन्तनीय उस प्रभु का मन-वाणी-कर्म से पूजा करनी चाहिए।

भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (यजु०, ३६. ३)

प्राणाश्रयो दुःखविनाशकश्च
संरक्षकः सर्वजनप्रियश्च ।
सुखप्रदो वा सविता हि देवो
भर्गो हि तस्यास्ति वरेण्यमत्र ॥ २४८ ॥

प्राणों का आश्रय अर्थात् प्राणाधार, दुःखों का नाश करने वाला, सबका रक्षक तथा प्रिय, जो सत् चित् आनन्द-स्वरूप सुखप्रद उस सर्वोत्पादक, दिव्यशक्ति प्रभु का वरणीय पवित्र तेज संसार में पवित्र है।

वयं तमाप्तुं मनसा हि नित्यं
ध्यानं च कुर्मः परमेश्वरस्य ।
स एव सन्मार्गमतिप्रदाने
सम्प्रेरणे वा विदधातु यत्नम् ॥ २४९ ॥

हम उस शुद्धतम तेज को प्राप्त करने के लिए अटल मन से उस परमेश्वर का ध्यान करते हैं। वही आनन्दस्वरूप हमें सन्मार्ग की ओर ले जाने के लिए बुद्धियों को देवे या प्रेरणा करने का पूरा पूरा यत्न करे। भाव यह है—वही सद्बुद्धि को प्राप्त करा सकता है, उसी से प्रेरित होकर हम उस सन्मार्ग को ग्रहण करके उसके निकट पहुँच सकते हैं अन्यथा नहीं अतः उससे सद्बुद्धि की याचना करो।

अन्तःस्थितोऽसौ प्रभुरत्र पूर्णो
जानाति वृत्तं किल चास्मदीयम् ।
त्यक्त्वात्मपापानि मनोगतानि
तं प्रार्थयन्तां सततं विनम्राः ॥ २५० ॥

वह पूर्ण प्रभु सर्वान्तर्यामी है अतः हमारे मन के समस्त वृत्तों को अच्छी तरह जानता है। हम उससे कुछ छुपा नहीं सकते, अत: हे मनुष्यो ! तुम अपने मन में स्थित समस्त पापों, अपराधों, दुर्गुणों, दुर्व्यसनों का परित्याग करके उस प्रभु की नम्रतापूर्वक प्रार्थना करो कि हे प्रभो ! हमें सन्मति प्रदान करो।

अयं हि मन्त्रो गुरुरार्यनॄणां
ते प्रातरुत्थाय भजन्ति चैनम् ।
अल्पप्रभावेण मतिर्हितेषां
संजायते वेदविचारनिष्ठा ॥ २५१ ॥

यह मन्त्र श्रेष्ठ महान् आर्यपुरुषों का गुरु है। वे प्रात:काल उठकर इसी मन्त्र को जपते हैं, शुद्धचित्त होकर स्मरण करते हैं। इसी मन्त्राराधन के प्रभाव से उनकी बुद्धि निर्मल होकर वेद विचारनिष्ठ हो जाती है अर्थात् सदा वेद विहित मार्ग पर चलते हैं। ऐसे पुरुष संसार के कुचक्र में नहीं फंसते स्वयं तो सन्मार्ग पर चलते ही हैं औरों को भी उस पर चलने के लिए उत्साहित करते हैं।

पापापहारि प्रथितोऽस्य भर्गो
ध्यानं च तस्यात्र सदा विधेयम् ।
एवं हि नित्यं करणात् जनाना-
मज्ञान दोषो झटिति प्रयाति ॥ २५२ ॥

उस प्रभु का वरणीय तेज निश्चित रूप से पापों को नष्ट करने वाला है—अतः उसका यहां निरन्तर ध्यान करना अत्यावश्यक है, इसलिए हमें अवश्य करना चाहिए, इस प्रकार नित्य करने से अज्ञान-रूपी दोष शीघ्र ही दूर हो जाता है।

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ (यजु०, ३६. १२)

व्याप्तः स सर्वत्र गुणाकरश्च
स्वाभीष्टसिद्धयै परमाप्तिहेतोः ।
श्रेयस्करो नो भयरोगहर्ता
करोतु वर्षां परितो सुखस्य ॥ २५३ ॥

दिव्य गुणों का भण्डार वह प्रभु संसार के कण कण में व्याप्त है। हम अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए तथा कल्याण के लिए उस, भय तथा रोगनाशक प्रभु से अपने चारों ओर सुख सौभाग्य की वर्षा के लिए प्रार्थना करते हैं—हे प्रभो ! तुम सुख की वर्षा करो। क्योंकि वह कल्याण स्वरूप है, उसकी कृपा होने से संसार के सुख सौभाग्य तो प्राप्त होते ही हैं। पारलौकिक सुख भी उसी से मिलता है।

आनन्दपूर्णः प्रभुरत्र नित्य-
मानन्दमस्मभ्यमसौ ददातु ।
कल्याणहेतोः परमेश्वरो नः
सुखस्य वर्षां प्रकरोत्वजस्रम् ॥ २५४ ॥

वह प्रभु आनन्दपूर्ण है—वह सदा हमें आनन्द विभोर करे और हमारे कल्याण के लिये सदा सुख समृद्धि को वर्षा करे, फिर हम केवल उसी का ही चिन्तन करें।

नानाविधानां सुखसम्पदां च
स्रोतः स ईशः खलु मानवेभ्यः ।
प्राप्तुं च तस्माद्धि निजेष्टसिद्धि
याचामहे तं विनयेन दीनाः ॥ २५५ ॥

वह परमपिता परमात्मा निश्चित रूप से संसारी मनुष्यों के लिए अनेक प्रकार की सुख सम्पत्तियों का स्रोत है। उसी से अपनी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करने के लिए हम दीन होकर नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हैं।

स्वसाधकेभ्यो जगति प्रसन्न-
हर्षप्रकर्षेण समृद्धिवर्षाम् ।
धाराप्रवाहैः सततं करोति
स्नान्त्यत्र तस्यां पुरुषाः प्रशस्ताः ॥ २५६ ॥

इस संसार में अपने साधकों पर प्रसन्न होकर प्रभु हर्षावेग में अर्थात् प्रसन्नता की लहर में निरन्तर धारा प्रवाह सुख समृद्धि की वर्षा करता है। उसके कृपापात्र प्रशस्त पुरुष ही उस वर्षा में स्नान करते हैं।

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । (यजु०, ३६ १८)

मोहापहारिन् सकलैकपूज्य !
मोहान्धकारस्य निवारणाय ।
दृढं प्रतिज्ञं कुरु मां यथाहं
स्नेहं च मानं च परस्य कुर्याम् ॥ २५७ ॥

मोहरूपी अन्धकार को दूर करने वाले, सबसे पूज्य, मोहान्धकार-अविद्यान्धकार, अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिये मुझे दृढ़प्रतिज्ञ तथा दृढ़ बनाओ, ताकि मैं यथोचित स्नेह तथा अन्यों का सम्मान सत्कार कर सकूं।

सर्वाणि भूतानि च मां सदैव
स्नेहेन पश्यन्तु तथादरेण ।
तथैव चाहं ननु सर्वदैव
पश्यानि विश्वासविवर्धनाय ॥ २५८ ॥

संसार के सब प्राणी मुझे आदर और प्यार की दृष्टि से देखें। उसी प्रकार मैं भी सदा निश्चित रूप से उनके विश्वास और स्नेह को बढ़ाने के लिए देखूं।

एवं वयं मित्रसमानदृष्ट्या
परस्परं सद्व्यवहारयुक्ताः ।
अन्योन्यभावं प्रतिबुद्धयमाना
निर्द्वन्द्वभावेन सदा वसामः ॥ २५९ ॥

सद्व्यवहार युक्त इस प्रकार हम आपस में मित्र की दृष्टि से एक दूसरे को देखते हुए तथा एक दूसरे के मन के भाव को आपस में जानते हुए सदा निर्द्वन्द्व भाव से रहें।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
(यजु०, ४०. १)

[illegible] हि [illegible]
[illegible]
तत् [illegible] सदा हि [illegible]
[illegible]

इस [illegible] अधिपति [illegible] करना चाहिए। [illegible] चाहिए। सदा त्यागपूर्वक भोगो।

चिन्त्यं सदा चेतसि [illegible]
[illegible] लोके ।
विचारबुद्ध्या [illegible]
[illegible]

सदा शुद्ध तर्क द्वारा मन में [illegible] किसका है ? विचार बुद्धि से तू जान जाएगा कि [illegible] के भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों में [illegible]

जानासि सम्यक् सुविचारबुद्ध्या
प्रजापतेरस्ति धनं [illegible] ॥
दत्तं प्रजाभ्यः परिपालनाय
तेनैव सर्वं परमेश्वरेण ॥ [illegible] ॥

विचारपूर्वक चिन्तन बुद्धि से तू अच्छी तरह जान जाएगा कि [illegible] सब धन उस प्रजापति परमात्मा का है। उसी परमेश्वर ने [illegible] प्रजा के पालन-पोषण तथान्य सुख के लिए दिया है।

चलाचलं यद् भुवि जातमस्ति
स्थितः स तेष्वेव सदा नियन्ता ।
आच्छादितं तद् बहिरन्तरं च
भवन्ति सूत्रे मणयो हि यद्वत् ॥ [illegible] ॥

जो कुछ चल-अचल, जंगम-स्थावर जगत् है, उन सब में वह जगन्नियन्ता पूर्ण रूप से स्थित है, व्यापक है—उसने इस संसार को बाहर और अन्दर से अर्थात् सब ओर से आच्छादित किया हुआ है जैसे मणियों के मणकों में सूत्र तागा-तन्तु ओतप्रोत है।

कर्तव्यमेतद्धि सुमानवस्य
ज्ञात्वा च तं व्यापकमत्र लोके ।
तेन प्रदत्तं धनवैभवं च
त्यागेन भोग्यं सुखदं जगत्याम् ॥ २६४ ॥

विचारशील श्रेष्ठ पुरुष का यह कर्त्तव्य है—उस प्रभु को इस संसार में सर्वत्र व्यापक जानकर। उसके द्वारा दिए हुए धनवैभव को, जो जगत् को सुख देने वाला है। त्यागभाव से भोगे, लालच को छूने तक न दे।

अन्यायदुष्कर्मसमर्जितं च
ह्यज्ञानतोऽप्यत्र सदा मनुष्यः ।
विचिन्त्य तं न्यायकरं प्रभुं च
कदापि नेच्छेत् मनसापि लोके ॥ २६५ ॥

अन्याय तथा अन्यदुष्कर्म चोरी आदि द्वारा एकत्रित किए धन को उसकी वस्तुस्थिति को न जानता हुआ भो मनुष्य सदा न्यायकारी प्रभु का मन में चिन्तन करके उस धन की कभी मन से ग्रहण करने की इच्छा न करें।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(यजु०, ४०. २)

कर्माणि कुर्वन्निह मानवश्च
शताधिकं वा शतवर्षमत्र ।
जिजीविषँश्च श्रुतिमार्गनिष्ठो
न लिप्यते कर्मनिबन्धनैश्च ॥ २६६ ॥

इस संसार में कर्मों को करता हुआ, सौ वर्ष या इससे भी अधिक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार श्रुति निर्दिष्ट मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति कर्म बन्धनों में लिप्त नहीं होता।

वेदोदितं कर्म निरन्तरं हि
निष्कामभावेन सदैव कुर्वन् ।
अलिप्तकर्मा मनुजः कदापि
न लिप्यतेऽस्मिन् कमलं यथाप्सु ॥ २६७ ॥

वेदविहित कम निरन्तर सदा निष्काम भाव से करने वाला मनुष्य अलिप्तकर्मा रहता है अर्थात् उस कर्म का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता, इस अपने कतव्य कर्म में, जल में पैदा हुए कमल के समान निर्लेप रहता है। भाव यह है—जैसे कमल पर जल में रहते हुए जल का कोई प्रभाव नहीं होता ठीक उसी प्रकार निष्काम कर्म करने वाला व्यक्ति भी निर्लेप रहता है।

नान्यः प्रकारः किल मानवानां
मोक्षाय कश्चिद् विधिनोपदिष्टः ।
तस्मिंश्च चित्तं प्रणिधाय नित्यं
तत् कर्म कर्तव्यमवश्यमेव ॥ २६८ ॥

विधाता ने मनुष्यों को कर्मबन्धन से युक्त रहने के लिए इसके अतिरिक्त कोई और प्रकार नहीं बनाया। अत: निष्काम कर्म में या उस प्रभु में मन को खूब अच्छी तरह लगा कर उस कर्तव्य कर्म को अवश्य करना चाहिए।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
(यजु०, ४०. ३)

आत्मानुसारं न चरन्ति येऽत्र
ते घ्नन्ति चात्मानमिह स्वयं हि ।
गाढान्धकारेण समावृताश्च
गच्छन्ति लोकेऽसुरयोनिमन्धाः ॥ २६९ ॥

जो लोग अपनी आत्मा के अनुसार यहां आचरण नहीं करते उसके विपरीत करते हैं। वे अपने आप अपना हनन करते हैं अर्थात् आत्मघाती होते हैं। वे अज्ञानान्धकार व अविद्यान्धकार से युक्त होकर सन्मार्ग से भटके हुए अन्धे असुर सम्बन्धी या प्रकाशरहित लोक में जाते हैं। भाव यह है उसके यही स्थान अथवा योनियां हैं।

विस्मृत्य कर्तव्यमितः स्वकीयं
दुष्कर्मलीना हतबुद्धयस्ते ।
अज्ञानपाशे पतिता मनुष्या
घोरान्धकारे गहने लुठन्ति ॥ २७० ॥

अपनी आत्मा के अनुसार कर्तव्य को भूल कर हतबुद्धि, विषयासक्त एवं अन्य दुष्कर्म में लीन मनुष्य अज्ञान के जाल में गिर कर अविद्यान्धकार में अर्थात् महानज्ञानान्धकार में लेटते हैं ।

निमज्य चान्धे तमसि प्रमत्ताः
कर्मानुरूपं प्रतियान्ति योनिम् ।
अत्रापि तत्राप्युभयत्र दुःखं
सम्प्राप्य घोरे नरके पतन्ति ॥ २७१ ॥

मूर्ख तामसी मनुष्य अज्ञानान्धकार में डूब कर अपने किए हुए कर्मों के अनुसार योनि को प्राप्त करते हैं । वे लोग यहां भी और मृत्यु के बाद भी अर्थात् इस लोक और परलोक दोनों में अनेकानेक दुःखों को प्राप्त करके घोर नरक में गिरते हैं ।

न ज्ञानसूर्यः समुदेति यत्र
यत्रास्ति लक्ष्यं जठराग्निपूर्तिः ।
तेष्वेव लोकेषु पुनः समेत्य
तिष्ठन्ति मूढाः पशुभिः समानाः ॥ २-२ ॥

वे अज्ञानी विषयासक्त मनुष्य जहां ज्ञान का सूर्य नाम मात्र को भी उदय नहीं होता, जहां केवल खाना-पीना अर्थात् उदरपूर्ति ही एक मात्र लक्ष्य है ऐसे स्थानों या योनियों को दुबारा प्राप्त करके वे मूर्ख पशुओं के समान जीवन-यापन करते हैं ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
(यजु०, ४०.४)

एको विभुर्यस्त्वचलो जगत्यां
तस्यास्ति वेगो मनसो जवीयः ।
व्याप्तः स प्रागेव समेति तत्र
नैवेति यत्रान्यनरः कदापि ॥ २७३ ॥

ईश्वर एक ही है—वह इस संसार में अचल, निर्विकार, सर्वव्यापक, उसका सानी दूसरा नहीं हो सकता अतः वह अद्वितीय है । उसका वेग मन से भी अधिक है । जहां पर लोग जाने की चेष्टा करते हैं वह व्यापक होने से पहले ही चला जाता है । जहां पर और कोई मनुष्य इस प्रकार कभी नहीं जा सकता ।

नैवेन्द्रियाणां विषयः स चैको
ज्ञातुं न शक्तानि तमिन्द्रियाणि ।
स्थितोऽपि चान्यान् खलु धावमानान्
त्यक्त्वा हि पृष्ठे स्वयमेति चाग्रे ॥ २७४ ॥

वह अद्वितीय परमात्मा इन्द्रियों का विषय नहीं, अतः वे उसे जानने में समर्थ नहीं अर्थात् उसको जान नहीं सकतीं, वह स्थिर रहता हुआ भी व्यापक सत्ता से अन्य दौड़ने वालों को पीछे छोड़ कर स्वयं आगे निकल जाता है ।

विभौ च तस्मिन् परमेश्वरे हि
समीरणोऽजस्रमितो हि नित्यम् ।
मेघस्वरूपेण जलं दधाति
तथा च कर्माणि दधाति सोऽयम् ॥ २७५ ॥

उसी व्यापक ईश्वर में वायु जल को सदा निरन्तर मेघ के स्वरूप में धारण करता है व मातरिश्वा जीवकर्मों को धारण करता है । (अपः कर्म नाम नघं० २.१)

ज्ञातव्यमेतद्धि जनैरवश्यं
ब्रह्माण्डकर्ता प्रभुरेक एव ।
ज्ञातुं सदा तं यतनीयमेव
ध्यानेन योगेन समाधिना च ॥ २७६ ॥

संसार में मनुष्यों को यह अवश्य जान लेना चाहिए। वह ब्रह्माण्ड का कर्ता प्रभु एक ही है। उस प्रभु को जानने के लिए सदा ध्यान तथा योगाभ्यास से समाधिस्थ होना चाहिए।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥
(यजु०, ४०. ५)

गतिं करोतीश्वर एव नित्यं
करोति नेशो गतिरत्र लोके ।
अन्येभ्य एषोऽत्र गतिं ददाति
स नैकदेशीयपदार्थवच्च ॥ २७७ ॥

वह परमात्मा गति-कर्ता है। वह अविवेकी पुरुषों की दृष्टि में गति-कर्ता है। वास्तव में वह गति नहीं करता—वह दूसरों को गति देता है अर्थात् कराता है। वह एक देशीय पदार्थ की तरह गति नहीं करता।

दूरे च पार्श्वेऽपि स बुद्धिभेदात्
स वस्तुतश्चास्ति सदा हि पार्श्वे ।
स एव चान्तश्च बहिः स एव
सर्वत्र सर्वेषु वरीवरीति ॥ २७८ ॥

वह प्रभु दूर भी है और समीप भी है, भाव यह है वह अज्ञानियों से सदा दूर है और ज्ञानी विवेकशील व्यक्तियों के सदा समीप है। वह इस सबके भीतर है वह इस सबके बाहर भी है अर्थात् वह इस संसार व जीवों के अन्दर भी है और वही इस जगत् या जीवों के बाहर भी है।

संसारजीवेषु सदा स्थितः स
जीवेषु बाह्योऽपि स एव चेशः ।
गतिर्विचित्रा परमाद्भुता च
तस्यास्ति लोके प्रतिबुद्ध्यते न ॥ २७९ ॥

संसारी जीवों में प्रभु व्यापक होने से सदा वर्तमान है। वही परमात्मा जीवों के बाहर भी विद्यमान है। उस प्रभु की गति बड़ी अद्भुत है और विचित्र है। उसको हम जान नहीं सकते।

कुर्वन् गतिं प्राणिषु चात्मनैव
बाह्यो तथाभ्यन्तर एव नित्यम् ।
पार्श्वेऽपि दूरे स च मानवानां
करोति वासं नितरामनन्यः ॥ २८० ॥

वह प्रभु स्वयं गति करता है और वही जीवों के बाहर तथा अन्दर नित्यगति कराता है। वह प्रभु मनुष्यों के समीप और दूर भी रहता है। अतः उस प्रभु के समान कोई दूसरा नहीं, वह अद्वितीय है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥
(यजु०, ४०. ६)

सर्वाणि भूतानि सदात्मनीह
भूतेषु चात्मानमथात्र यश्च ।
निरीक्षते चारुतरं सदैव
स संशयं नेति कदापि लोके ॥ २८१ ॥

जो व्यक्ति सब प्राणियों को सदा परमात्मा में देखता है, तथा समस्त प्राणियों में उस परमात्मा को ही देखता है, वह इस संसार में कभी संशय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् निःसंदेह होकर सर्वत्र चराचर प्राणिमात्र में वह प्रभु के ही दर्शन करता है।

भूतस्थमात्मानमवेक्षते य
स्तथैव भूतानि तदात्मनीह ।
तदात्मरूपं सकलं हि पश्यन्
न शङ्कते किञ्चिदपि प्रसन्नः ॥ २८२ ॥

जो व्यक्ति प्रभु को समस्त प्राणियों में देखता है अर्थात् प्राणियों को ही प्रभु का रूप जानता है और उसी तरह प्राणियों को उस प्रभु में देखता है अर्थात् समस्त संसार को उसी का रूप तन्मय मानता है वह प्रसन्नचित्त व्यक्ति किञ्चित् मात्र भी शंका में नहीं पड़ता सदा उसी की लीला का प्रसार मानता है।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः ॥
(यजु०, ४०. ७)

ब्रह्मैकतत्त्वेऽत्र निविष्ठितस्य
समीक्षमाणस्य सदैकभावम् ।
विवेकशीलस्य नरस्य चित्ते
भवन्ति सर्वे परमात्मरूपाः ॥ १८३ ॥

ब्रह्म तत्त्व में लीन सबको एकत्व दृष्टि से देखने वाले अर्थात् सब में परमात्म दृष्टि रखने वाले विवेकशील मनुष्य के अथवा ब्रह्मलीन योगी के मन में सब चराचर प्राणी परमात्मा का रूप होते हैं अर्थात् समस्त जगत् वह तन्मय देखता है।

आत्मानमेवं परिचिन्त्यमानः
सत्यात्मके दत्तमना मनस्वी ।
तदात्मकं सर्वमिदं हि पश्यन्
न याति शोके न च मोहगर्ते ॥ १८४ ॥

उस सच्चे परमात्मा में दत्त-चित्त मननशील मनस्वी केवल उसी प्रभु का चिन्तन करता हुआ, इस दृश्यमान जगत् को तथा चराचर प्राणी-मात्र को उसी के रूप में देखता है, इसीलिए वह किसी शोक का शिकार नहीं होता और न ही मोह के गड्ढे में गिरता है अर्थात् शोक और मोह उसके पास फटकते नहीं। शोक मोह से रहित वह ब्रह्मज्ञान में लीन रहता है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ (यजु०, ४०. ८)

न यस्य नाड्योऽप्यथ निर्व्रणश्च
व्याप्तः स सर्वत्र बली विदेहः ।
पृथक् स पापाद्धि कविर्मनीषी
विराजमानः परितः स्वयम्भूः ॥ १८५ ॥

वह परमात्मा सर्वव्यापक है, ऐसा कोई स्थान नहीं जहां वह न हो, अत्यन्त शक्तिशाली, दिव्यप्रभा से दीप्त, स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है। जब शरीर ही नहीं तो व्रण कहाँ से हो सकता है, अतः वह व्रण आदि से रहित है। नस-नाड़ी के बन्धन में नहीं अर्थात् नाड़ी आदि के बन्धन से रहित है। दोषरहित, पवित्र, क्रान्तदर्शी, सर्वज्ञ-मेधावी-संसार रूप काव्य की रचना करने वाला, सबको मन की इच्छा को जानने वाला, चारों तरफ विराजमान, अपनी सत्ता से स्वयं प्रकट होकर रहने वाला है।

अनादिकालान् नियमानुसारं
प्रजार्थमेवात्र बहुप्रकारान् ।
कर्मानुकूलं विधिना विधिज्ञो
ददाति चार्थान्नियतं नरेभ्यः ॥ १८६ ॥

अनादिकाल से चली आ रही प्रजा के लिए अपने न्यायानुसार ठीक-ठीक प्रत्येक के कर्मानुसार विधि-विधानानुकूल जैसा जिसके लिए जो उचित है, वैसा ही पदार्थ प्रदान करता है—वह पदार्थों का भण्डार है। अतः पदार्थों का वितरण करना भी उसी का काम है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥
(यजु०, ४०. ९)

गुणत्रयं येऽत्र भजन्ति मर्त्या
घोरान्धकारे प्रविशन्ति ते हि ।
तत्कारणोद्भूतसृतौ निसक्ता
गाढान्धकारे निपतन्ति तस्मात् ॥ १८७ ॥

जो व्यक्ति सत्व रज तमोगुण युक्त प्रकृति की उपासना करते हैं और जो सम्भूति अर्थात् कार्य रूप में परिणत हुई सृष्टि में रमण करते हैं, सदा डूबे रहते हैं, वे उससे भी बढ़ कर गाढ़ अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

मूलप्रकृत्यां निरता नरा ये
तेऽविद्ययात्र प्रथिता हि सर्वे ।
पतन्त्यजस्रं गहनान्धकारे
त्राता न तस्मात् पुनरत्र कोऽपि ॥ २८८ ॥

अविद्यान्धकार से ग्रथित—बन्धे हुए जो मनुष्य कारण रूप मूल प्रकृति को निरन्तर उपासना करते हैं, अर्थात् इन्द्रियों के विषयों में डूबे रहते हैं, वे सब गहनान्धकार में सदा गिरते हैं फिर उससे बचाने वाला इस संसार में कोई नहीं ।

समष्टिवादं परिहाय यश्च
निजोन्नतिं केवलमिच्छतीह ।
आत्मोन्नतिं चापि विहाय चैवं
समष्टिवादे परिदत्तचित्तः ॥ २८९ ॥

जो समष्टिवाद को छोड़कर केवल अपनी उन्नति की चिन्ता करता है, तथा आत्मोन्नति को छोड़कर केवल समष्टिवाद में लगा रहता है ।

उभौ न तौ श्रेष्ठपथप्रवृत्ता-
वुद्देश्यहीनौ विपरीतमार्गे ।
अतो यथार्थं परिचिन्त्य चित्ते
गाढान्धकाराद् विनिर्वातितव्यम् ॥ २९० ॥

उपर्युक्त दोनों श्रेष्ठ मार्ग को छोड़ कर लक्ष्यविहीन विपरीत मार्ग का अनुसरण करते हैं । आत्मोन्नति के साथ समाज उन्नत होता है, और समाज के साथ आत्मोन्नति होती है अतः यथार्थतत्त्व को मन में अच्छी तरह विचार कर अनुकूल व्यवहार से घोरान्धकार-अज्ञानान्धकार से पीछे हटना चाहिए ।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
(यजु०, ४०. १०)

तेसम्भवादन्यदसम्भूतिरूपा
वदन्ति चान्यत् फलमत्र धीराः ।
वयं हि तेषामुपदेशमेव
आकर्णयामः सततं समस्तम् ॥ २९१ ॥

धीर विद्वान् कार्यरूप सृष्टि से और ही फल कहते हैं । कारण-रूप मूल प्रकृति सत्व रज तमोमयी मूल प्रकृति का फल और कह कर हमें समझाते हैं । हम निरन्तर उनके उपदेशों को सुनते हैं ।

धीराः सदास्मानुपकारवृत्या
व्याख्यानवर्षैरनुबोधयन्ति ।
गाढान्धकारं परिहर्तुमत्र
यत्नो सदाऽस्माभिरसौ विधेयः ॥ २९२ ॥

हम में उपकार वृत्ति रखने वाले धीर पुरुष, अपने व्याख्यानों की वर्षा से हमें अच्छी तरह समझाते हैं । अविद्यान्धकार, अज्ञानान्धकार को छोड़ने के लिए, अतः हम भी उस उपदेशामृत का पान करके उससे बचने के लिए स्थिर मन से यत्न करें ।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥
(यजु०, ४०. ११)

कार्यैकरूपां प्रकृतिं विनाशं
मूलैकरूपां प्रकृतिं तथा वा ।
उभौ विजानाति सहैव यश्च
तीर्त्वा विनाशेन स मृत्युमत्र ॥ २९३ ॥

जो सम्भूति कार्य रूप प्रकृति-सृष्टि और विनाश-असम्भूति अर्थात् मूल-प्रकृति इन दोनों को साथ-साथ जानता है, वह विनाश असम्भूति से मूल रूप प्रकृति से मृत्यु को तैर कर ।

सम्भूतिमाश्रित्य सदा मनीषी
ध्यानेन चान्तःकरणेन धर्मे ।
योगस्य मार्गे हि मनो निधाय
विवेकबुद्धयामृतमेति नूनम् ॥ २९४ ॥

मननशील योगी सम्भूति का आश्रय लेकर सदा ध्यान धारणा से एवं अन्तःकरण के सहयोग से धर्म में तथा योगमार्ग में मन को लगा कर विवेक बुद्धि के द्वारा निश्चित रूप से अमृत को मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
(यजु०, ४०. १२)

ज्ञानं विना कर्मणि चात्र लोके
संसक्तचित्ता अविवेकिनश्च ।
विशन्ति ते वै गहनान्धकारे
ये केवलं ज्ञानसमाश्रिता हि ॥ २९५ ॥

जो ज्ञानरहित केवल कर्म की उपासना में मन को लगाए हुए हैं। वे मूर्ख गाढान्धकार में प्रवेश करते करते हैं। जो केवल ज्ञानाश्रित रहते हैं।

ततस्तु तस्मादधिके तमोन्धं
विशन्ति ते ये ननु कर्मशून्या ।
विवेकिनः कर्मयुता मनुष्याः
संसारसिन्धुं हि तरन्ति चात्र ॥ २९६ ॥

वे व्यक्ति कर्म बिना उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं। इस संसार में ज्ञानी तथा कर्मठ अर्थात् ज्ञान सहित कर्म करने वाले ही संसार समुद्र को तैरते हैं, पार करते हैं।

न केवलं कर्म सुखप्रदं वा
न केवलं ज्ञानपथः सुखाय ।
भित्त्वा तमश्चात्र सदा मनुष्य
ज्ञानं च कर्म द्वयमत्र चेष्टम् ॥ २९७ ॥

ज्ञान शून्य केवल कर्म सुखप्रद नहीं, इसी प्रकार कर्म शून्य ज्ञान भी सुखप्रद नहीं, इस संसार में अज्ञानान्धकार को फाड़कर पार करने के लिए मनुष्य को सदा ज्ञान और कर्म दोनों के द्वारा अपना अभीष्ट प्राप्त हो सकता है।

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
(यजु०, ४०. १३)

विद्याफलं ते निगदन्ति चान्यद्
अन्यत्त्वविद्याफलमत्र चाहुः ।
विद्वद्भिरेवं शृणुमो वयं च
ज्ञानेन मोक्षो ननु कर्मजेन ॥ २९८ ॥

ज्ञान से और ही फल कहते हैं, अविद्या कर्म से और फल कहते हैं, ऐसा हम, धीर-ज्ञानी विद्वानों से सुनते हैं। वे अपने उपदेश में बार-बार यही कहते हैं—हे मानव ! मुक्ति मौत से छुटकारा सत्कर्म और ज्ञान से होगा।

विज्ञाय विज्ञाय च कर्म कुर्वन्
धीमांश्च मर्त्यो लभते सुमार्गम् ।
तेनैव मार्गेण चलन्ति चान्ये
तद्वर्त्मना तेऽमृतमाप्नुवन्ति ॥ २९९ ॥

ज्ञानयुक्त कर्म को करने वाला बुद्धिमान् मनुष्य सन्मार्ग को प्राप्त कर लेता है। फिर उसी मार्ग से दूसरे लोग चलते हैं। उस रास्ते से वे अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
(यजु०, ४०. १४)

ज्ञानं तथा कर्म सहैव जानन्
सत्कर्मयुक्तो मनुजः पृथिव्याम् ।
विजित्य मृत्युं निजविद्यया च
प्राप्नोति चात्रैव सदाऽमृतत्वम् ॥ ३०० ॥

जो विद्या और अविद्या अर्थात् ज्ञान और कार्य इन दोनों को साथ-साथ जानता है। वह अपने ज्ञान से मृत्यु को जीत कर यहां सदा अमृतत्व को प्राप्त करता है।

ज्ञानं च लब्ध्वा प्रकरोति योऽत्र
ज्ञानानुरूपं ननु कर्म सर्वम् ।
अध्यात्मवादेन स मृत्युतुल्य-
मपास्य दुखं समुपैति मुक्तिम् ॥ ३०१ ॥

जो मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करके व्यवहार भी प्रत्येक कर्म में वैसा ही करता है, वह मृत्यु जैसे दुःख को पछाड़ कर अपने अध्यात्मवाद से मुक्त हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए छूट जाता है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिवे स्मर कृतं स्मर ॥
(यजु०, ४०. १५)

बाह्यस्थवायुर्ननु प्राणवायुं
धत्ते सदा मानवजीवनं च ।
स प्राणवायुस्त्वमृतस्वरूपं
दधाति जीवं तमिहात्तशक्तिम् ॥ ३०२ ॥

यह बाह्य वायु प्राण वायु को धारण करता है, और मानव जीवन का भी यही आश्रय है—यह प्राणवायु अमृत-स्वरूप जीव को धारण करता है। इन दोनों के आश्रय अर्थात् इस वायु के आश्रय प्राण और प्राण के आश्रय आत्मा जीवन को अर्थात् जीवन शक्ति को ये दोनों देते हैं।

कस्याप्यभावे खलु चानयोर्हि
भस्मान्तमेतद्धि वपुः प्रयाति ।
अतः कृतं स्वं बलमाप्तुमेक-
मोमक्षरं त्वं स्मर कर्मकारिन् ॥ ३०३ ॥

इस संसार में उपर्युक्त कारणों में से किसी एक के न रहने से यह हमारा शरीर भस्म हो जाता है अर्थात् सदा के लिए नष्ट हो जाता है, अतः हे कर्मशील मानव ! तू इसके भस्म होने से पहले अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए ओ३म् इस अक्षर ब्रह्म का स्मरण कर एवं अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥
(यजु०, ४०. १७)

ऐश्वर्यभोगैरथ चान्धरीत्या
सत्यस्य लोकेपिहितं मुखञ्च ।
लोभप्रलोभावरणं विदार्य
वयं प्रपश्याम तमीश्वरं हि ॥ ३०४ ॥

संसार के ज्योतिर्मय चमकदार ढक्कन से अर्थात् भोग-ऐश्वर्य से सत्य-स्वरूप प्रभु का मुख ढका है—यह सबको मालूम है, इसलिए लोभ तथा अन्य विषयों से ढके ढक्कन को फाड़कर या उठाकर हम उस ईश्वर को देखें।

प्रत्यक्षमेत्य स्वयमेव सत्य-
स्वरूप ईशः स वदिष्यतीह ।
सूर्ये स्थितो यश्च स एव चाह-
मोमक्षरब्रह्म नितान्तशुद्धम् ॥ ३०५ ॥

उस संसार मोहक ढक्कन के उठने से सत्यस्वरूप ईश्वर स्वयं प्रेमपूर्वक स्नेह भरी आँखों से कहेगा जो पुरुष सूर्य मण्डल में स्थित है वही मैं ओमाक्षरात्मक ब्रह्म प्रतिष्ठित हूँ ।

नभो यथा व्यापकमस्त्यजस्र-
मोमक्षरं ब्रह्म सदा तथैव ।
विहाय भोगानत एव सर्वान्
तदक्षरं चानुदिनं भजन्तु ।। ३०६ ।।

जिस प्रकार आकाश व्यापक है उसी तरह ओम् अक्षरात्मक पर-ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, अतः हे सच्चे साधको ! संसार के समस्त भोग ऐश्वर्य अर्थात् विषय विकारों को छोड़कर उस अविनाशी ओमक्षर परब्रह्म का नित्य भजन करो ।

प्रसरतु मम काव्यं भारते वेदमूलं
विलसतु भवभूत्यै सर्वदा काव्यतत्त्वम् ।
प्रतिजनवदने सा चास्थ काव्यस्य चर्चा
प्रभवतु भवदुःखोच्छेदने काव्यगीतम् ।। ३०७ ।।

वेदप्रधान मेरे इस काव्य का संसार में सर्वत्र खूब प्रचार हो। सदा संसार के कल्याण के लिए इसमें प्रदर्शित ईश्वर तत्त्व अपना चमत्कार दिखाए। प्रत्येक व्यक्ति के मुख में इसी वेद-मन्त्रात्मक काव्य की ही चर्चा हो। इसमें गाई प्रभु की महिमा सांसारिक दुःखों को नष्ट करने में शक्तिशाली हो। अर्थात् इसके पढ़ने-पढ़ाने वाले को किसी प्रकार का कष्ट न हो।

संसारार्णवतारणाय तदिदं चित्रं प्लवं चोत्तमं
सन्तस्तत् परिचिन्तनैकमनसा ध्यायन्ति सर्वोदयम् ।
वेदार्थादिनिवेदकं यदमलं सुम्यक्तया निश्चितं
ब्रह्मास्वादसहोदरं सुरगिरा काव्यं मया निर्मितम् ।। ३०८ ।।

संसार सागर को पार करने के लिए यह विचित्र और उत्तम नाव है, सज्जन पुरुष तथा विद्वद्गण इसी का चिन्तन करते हुए सबका विकास तथा कल्याण चाहते हैं। अच्छी तरह निश्चित वेद के शुद्ध

और निर्मल अर्थ को प्रकट करने वाले—उस ब्रह्मानन्द के साक्षात् सहोदर रूपी काव्य की मैंने संस्कृत में रचना की है। इस काव्य का सार यह है—इसके पढ़ने में कवितारस के साथ-साथ उस प्रभु को जानने में आसानी हो जाती है, और जानने के साधन कुछ कठिन होते हैं।

ज्योतीरामसुतेन विष्णमनघं निर्वाणसौख्यप्रदं
वेदार्थप्रतिपादकं सुललितं मन्त्रात्मकं सर्वथा ।
तत् तत्त्वं परिचिन्त्य चातिगहनं पीयूषपूरं पर-
मानन्दात्मचिदात्मकं हि सरसं काव्यं मया निर्मितम् ।।३० ।।

परम श्रद्धेय प्रातः स्मरणीय ! श्री ज्योतीराम के पुत्र (सन्तराम) मैंने अलौकिक निष्पाप अर्थात् पवित्र निर्वाण पद का अर्थात् मोक्ष सुख देने वाले—वेदार्थ प्रतिपादक, अत्यन्त रमणीय तथा मन्त्रमूल पर तत्त्व का चिन्तन करते हुए अत्यन्त गम्भीर अमृत से भरपूर समुद्ररूपी आनन्दात्मक, चित्स्वरूप-प्रकाश स्वरूप और निश्चित अपार रसयुक्त इस काव्य की रचना की है।

वेदात्मकं काव्यमिदं विचित्रं
ज्ञानाम्बुसिक्तं श्रुति-मन्त्रपूतम् ।
काव्यामृतस्वादरसानुरक्ताः
पश्यन्तु नूनं मनसा प्रगल्भाः ।। ३१० ।।

ज्ञानरूपी जल से सिञ्चित, श्रुति मन्त्रों से पवित्र और विलक्षण, मेरे इस वेदमन्त्रात्मक काव्य के रसामृत के स्वाद में अनुरक्त तथा तृप्त, महान् मनीषीविद्वत्ता तथा प्रगल्भता से पूर्ण मनोयोग से देखें।

वेदात्मकं काव्यमिदं मदीयं
पश्यन्तु वेदागमतत्त्व-विज्ञाः ।
सौहार्दभावेन दयान्वितानां
विपश्चितामस्मि सदैव दासः ।। ३११ ।।

वेदस्वरूप मेरे इस काव्य को वेद तथा शास्त्रों के तत्त्वदर्शी विद्वद्गण अच्छी तरह विचार कर देखें। सौहार्दभाव तथा करुणार्द्र—प्रेमाश्रुपूर्ण विद्वानों का मैं दास हूं।

वेदात्मकं काव्यमिदं बुधाना-
मग्रेस्थितं ह्यात्मविलोकनाय ।
मनोविनोदाय विचक्षणानां
कृत्वायमानन्दति सन्तराम: ॥ ३१२ ॥

वेद मूलक मेरा यह काव्य विद्वानों के आत्मसाक्षात् करने के लिए उनके सम्मुख प्रस्तुत है। विद्वानों के मन बहलाव के लिए तथा अपनी प्रसन्नता के लिए मैंने (सन्तराम ने) इस काव्य की रचना की है।

आनन्ददायकमिदं समवीक्ष्य काव्यं
मोहाद् बुधा निजमुखादिदमत्र चोचुः ।
मन्त्रात्मकं त्वभिनवं तव काव्यमेतत्
सर्वत्र भूमिवलये हि भवेत् प्रसिद्धम् ॥ ३१३ ॥

आनन्दप्रद इस काव्य को अर्थात् काव्य रचना को देख कर मोह से विद्वान् लोग अपने मुख से सहसा कह उठे। वेदमन्त्रात्मक आपका यह काव्य संसार में सर्वत्र प्रसिद्धि को प्राप्त करे।

दुग्धोदफेनसदृशं मम काव्यमेतद्
विद्वज्जनैर्बुधवरैरभितो निरीक्ष्य ।
मुक्तस्वरेण गदितं परमादरेण
विद्वज्जनेषु तव काव्यमिदं चकास्तु ॥ ३१४ ॥

विद्वानों ने दूध और पानी की झाग के समान निर्मल इस काव्य को दोनों ओर से अर्थात् सांसारिक तथा अध्यात्म दृष्टि से देखकर मुक्त स्वर से बड़े सन्मान के साथ कहा कि तेरा यह काव्य विद्वानों में खूब शोभित हो अर्थात् सूर्य की तरह चमके।

जननमरणचक्रे संसृतौ काव्यमेतत्
प्रथितमतिभिरुक्तं स्वर्गमोक्षैकहेतुम् ।
तदिह सुखमभीप्सुर्योनर: काव्यमेतत्
पठति यदि स नित्यं सर्वसौख्यं लभेत ॥ ३१५ ॥

जन्ममरणचक्र रूप संसार में प्रख्यात बुद्धिमान् महानुभावों ने परम सुख चाहने वालों के लिए स्वर्ग और मोक्ष का एकमात्र कारण इस काव्य को कहा है—अतः जो मनुष्य इस काव्य का नित्य-निरन्तर स्वाध्याय करता है वह सब सुखों को प्राप्त कर लेता है।

सर्वेष्टसाधनपरं मम काव्यमेतत्
मन्त्रैरनेकमहनीयतरैः कृतञ्च ।
ब्रह्मात्मकं निखिलतत्त्वगुणैककोशं
पश्यन्तु काव्यमिदमात्मपराः सुधीराः ॥ ३१६ ॥

समस्त इष्ट सिद्धि साधनपरक महत्त्वशील सुन्दर मन्त्रों से रचित ब्रह्मपरक वेद के समस्त गुणों का कोशरूपी इस काव्य को आत्मान्वेषी धीर विद्वान् अच्छी तरह देखें।

दृष्ट्वा काव्यमिदं बुधैर्गुणिगणैर्दत्ता च या सम्मतिर्
आभारस्य निवेदनाय नमितस्तेषां कृते सादरम् ।
शब्दो नास्ति ममान्तिके पुनरपि प्रोक्तुं स्थितोस्म्यग्रतो
जीयासुः शरदः शतं क्षितितले स्वस्थाः भवन्तः सदा ॥ ३१७ ॥

इस काव्य को अच्छी तरह विचार कर विद्वानों ने जो सम्मति दी है। उनके आभार प्रकट करने के लिए नतमस्तक होकर कहता हूँ, कि मेरे पास कोई शब्द नहीं, फिर भी उनके आगे कहने के लिए उपस्थित हो रहा हूँ। मुझे इस भार से हल्का होने के लिए तो कोई मंगलकामना करनी चाहिए, अतः मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आप इस भूमण्डल पर सदा स्वस्थ रह कर सैंकड़ों वर्ष जिएं।

मोगापुरस्य निकटे निकषा शतद्रुं
ग्रामो ममाऽस्ति विदितश्चडिकाख्यया यः ।
शास्त्रोक्तधर्मनिगमागमतत्त्वविज्ञा
मत्पूर्वजाः स्वनिलये न्यवसंश्च तत्र ॥ ३१८ ॥

मोगा और सतलुज के समीप चड़िक नाम से प्रसिद्ध मेरा ग्राम है। उसमें वेदविहित धर्म का पालन करने वाले—महान् वेद तथा धर्मशास्त्रों के तत्त्ववेत्ता मेरे पूर्वज अपने घर में रहते थे।

आसीच्च तेषु प्रथितः प्रपितामहो मे
नाम्नोदितः स धनिराम इति प्रसिद्धः ।
उक्तं यदीयमखिलं परमादरेण
चक्रुः शिरस्सु विहिताञ्जलयो मनुष्याः ॥ ३१९ ॥

उनमें प्रसिद्ध, प्रतापी, उदार, धनिराम मेरे प्रपितामह थे। उनके कहने को बड़े सन्मान के साथ हाथ जोड़कर लोग स्वीकार करते थे— अर्थात् उनकी आज्ञा को ईश्वरीय आज्ञा मानते थे।

कविगुरुमुखदत्तस्तस्य पुत्रोऽभवच्च
निगमविहितधर्मे दत्तचित्तो दयालुः ।
व्यतरदिह सदा यो वेदतत्त्वं जनेभ्यः
सकलगुण-निधानो विप्रवर्गे वरिष्ठः ॥ ३२० ॥

धर्मशास्त्रोक्त धर्माचरण में दत्तचित्त, दयालु, जनसाधारण में तथा विद्वज्जनों में निरन्तर वेदतत्त्व के उपदेशक, सकलगुण निधान, ब्राह्मणवर्ग में और विद्वद्जनों में प्रतिष्ठित कवि गुरुमुखदत्त उनके पुत्र थे।

ज्योतीरामः परम-सुमतिस्तस्य पुत्रो बभूव
ज्योतिश्शास्त्रे परमनिपुणः सम्प्रवक्ता फलानाम् ।
यत्तुल्योऽन्यो भुवि न विदितोऽद्य स्व-वंशावतंसः
पुत्रस्तस्य प्रथितयशसः सन्तरामो जगत्याम् ॥ ३२१ ॥

अपने पिता के पदचिह्नों पर चलने वाले, प्रखरमतिमान् कुशाग्र-बुद्धि, ज्योतिषशास्त्र के मर्मज्ञ तथा अद्वितीय विद्वान्, फलादेश के अद्भुत वक्ता, स्वकुलालङ्कार इस प्रकार के प्रसिद्ध यशस्वी श्री ज्योतीराम का पुत्र मैं सन्तराम इस काव्य का रचयिता है।

विनोदशर्मा विजयो रवीन्द्रः
पुत्राः, सुते स्नेह-सरोजनाम्न्यौ ।
शकुन्तला जानिरहं च सन्त-
रामः सदावेद-विचार-निष्ठः ॥ ३२२ ॥

विजय, विनोद, रवीन्द्र मेरे पुत्र हैं। स्नेह सरोज नाम की दो पुत्रियां हैं। शकुन्तला धर्मपत्नी तथा वेद विचार में मग्न मैं सन्तराम कहलाता हूं।

कमर्शलार्टे प्रथमो जगत्यां
छायाङ्कने चापि महान् विभूतिः ।
कलां निरीक्ष्यास्य वदन्ति विज्ञा
धन्योऽसि लोके विजय ! त्वमेव ॥ ३२३ ॥

कमर्शल आर्ट में प्रथम श्रेणी में डिग्री प्राप्त करने के अनन्तर आर्टिस्टों में शीघ्र प्रसिद्धि प्राप्त की– इसके अतिरिक्त फोटोग्राफी में महान् विभूति बना, (इसकी खेंची फोटो ऐसी प्रतीत होती है मानों वह मुंह से बोल रही हो) नख-शिख हाव-भाव ठीक व्यक्ति के अनुकूल होते हैं। इसकी इन दोनों कलाओं को देखकर उस कला के मर्मज्ञ कहते हैं विजय ! तू संसार में धन्य है।

विज्ञानशास्त्रे गणितागमे च
पारंगतो लब्धयशा मनस्वी ।
विद्यालये सर्वस-कारकस्य
संपाठयत्यद्य विनोदशर्म्मा ॥ ३२४ ॥

(बी० एस-सी०, बी-एड०, एम० ए०) विनोद साईंस तथा गणित में अद्वितीय विद्वान् होने के कारण महान् यश को पाकर आजकल सरकारी उच्च विद्यालय में इन दोनों विषयों को पढ़ा रहा है।

रवीन्द्रदेवस्तु तयोः कनिष्ठः
छायाङ्कने चाग्रगतो जगत्याम् ।
आकर्षितां चास्य निरीक्ष्य छायां
छायाङ्कका आनत-मस्तकाश्च ॥ ३२५ ॥

विजय और विनोद से छोटा रवीन्द्र फोटोग्राफी की कला के प्रसिद्ध और महान् व्यक्तियों में एक है। इसकी खेंची फोटो को देखकर सब फोटोग्राफर सिर नीचा कर लेते हैं तथा सन्मान की दृष्टि से झुक जाते हैं। आश्चर्य निमग्न होकर बार-बार इसकी फोटोग्राफी को देखते हैं। देखते ही दान्तों तले अंगुली दबाकर दंग रह जाते हैं।

पौत्रास्त्रयः सन्त्यनमोलरत्नो
दिव्याकृतिर् दिव्यमणिश् चिरायुः ।
तयोः कनीयान् श्रुतिकान्तशर्म्मा
पौत्र्योऽपि तिस्रः स्तुतिकीर्तिरत्रु ॥ ३२७ ॥

अनमोल रत्न, दिव्यमणि, श्रुतिकान्त मेरे तीन पौत्र हैं एवं स्तुति, कीर्ति, अत्रु नाम की तीन पौत्रियां हैं ।

यजुर्मन्त्रात्मकं काव्यं
सरलार्थ - समन्वितम् ।
खंभूतचन्द्रनेत्राख्ये
संवत्सरे च विक्रमे ॥ ३२७ ॥

कुम्भार्के च वसन्ततौ
मुहूर्तेऽभिजिते शुभे ।
सम्पूर्णमभवत् काव्यं
पञ्चम्यां भौमवासरे ॥ ३२८ ॥

सरल हिन्दी भाषा अनुवाद सहित (यजुर्वेदमन्त्रात्मकं काव्यम्) विक्रमी संवत् २०५० वसन्त ऋतु फाल्गुन मास शुभ अभिजित मुहूर्त में वसन्त-पञ्चमी, मंगलवार प्रभु-कृपा से यह काव्य सम्पूर्ण हुआ ।

वन्दे तामीश्वरीं भूयः
कविकर्मनिबोधनीम् ।
यां विना न किमप्यत्र
कार्यं भवितुमर्हति ॥ ३२९ ॥

मैं अन्त में कवित्व शक्ति प्रदान करने वाली उस भगवती वाग्देवी दयार्द्रित माँ सरस्वती के चरणकमलों में साष्टांग प्रणाम करता हूँ क्योंकि बिना उसकी कृपा के कोई भी कार्य नहीं हो सकता । उसकी कृपा से मनुष्य अनायास ही कर्त्तव्य कार्य में निपुण हो जाता है ।

शुद्धि-पत्रम्

पृष्ठ	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
७	१६	बद्धाञ्जुलिस्त्वां	बद्धाञ्जलिस्त्वां
२०	५०	भयः	भूयः
२५	६४	विष्णोः	विष्णो ?
२९	७५	सक्ता	सक्ताः
३२	८६	जना	जनाः
३५	९४	यज्ञकशीलो	यज्ञैकशीलो
३६	९७	नान्येष	नान्येषु
३९	१०६ श्लोक के नीचे	प्रमाचरण	प्रेमाचरणं
३९	१०८	मेवं	एवं
४५	१२६	निर्मलबुद्धयञ्च	निर्मलबुद्धयश्च
४८	तीसरी लाईन	स्वमी	स्वामी
८८	२५१	अल्पप्रभावेण	अस्य प्रभावेण
५१	१४४	आकारपत्यत्र	आकारयत्यत्र
६४	१८०	जाता	जाताः
यजु०	११—३	प्रसुवतिवान्	प्रसुवातिवान्
यजु०	११—५	पूर्वं	पूर्व्यं
यजु०	११—७	इन्द्रभूतये	इन्द्रमूतये
यजु०	१८—४६	सर्वाभिरुचो	सर्वाभीरुचे
यजु०	३४—१	तथैवेति	तथैवैति
९५	२७५ के नीचे	अयः	अपः
१०६	३१७	काव्य	काव्यं
११२	३२७	स्तुतिकीर्तिरत्रु नीचे हिन्दी में भी रत्नु	स्तुतिकीर्तिरती अती

ज्योतीराम तनय कवितार्किक सन्तरामशास्त्रिकृतं स्वकृतत्वानुवा

सहितं यजुर्वेदामन्त्रात्मकं काव्यम् समाप्तम् ।